प्रकाशकीय

श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ-प्रकाशन-समिति, इन्दौर को आचार्य कुन्दकुन्द की प्रस्तुत अद्वितीय कृति के प्रकाशन में अत्यधिक गौरव का अनुभव हुआ है। "समयसार" के उपरान्त "रयण-सार" उनकी एक ऐसी कृति है जो साधनारत श्रावक, अथवा मुनिके चारित्र को सम्यक् आयाम प्रदान करती है। सर्वविदित है कि सम्यक्ज्ञान का पात्र सम्यक् चारित्र ही हो सकता है; सदाचार में ही ज्ञानके कमल खिलते हैं। वस्तुतः यदि चारित्र अनुपस्थित है, तो ज्ञान सुप्त है; अपंग, महत्त्वहीन। असल में धरती ही यथार्थ में चारित्र है जहाँ ज्ञान का बीज अनुकूल आबोहवा में अपने डैने पसारता है, अर्थात् सम्यक्चारित्र ज्ञानका मूलाधार है। मेधावी ग्रन्थकार ने इस तथ्य की छाया में बड़ी सहज, सरल, सुबोध भाषा में "रयणसार" की रचना की है। संपूर्ण ग्रन्थ सूक्त-रत्नों की अदृप्त दीप्ति में जगमगा रहा है, और देहरी पर रखे दीये की तरह पाठकके अंतरंग-बहिरंग को प्रकाशसे अभिषिक्त कर रहा है।

यथार्थ में आचार्य कुन्दकुन्द की प्रतिभा का कोई जवाब नहीं है। वह अनुपम है, अतुल है, और अचूक है। इस क्षेत्र में अकेले वे सुमेरु की भाँति उत्तुंग-अविचल खड़े हैं। साफ-सुथरी निष्कपट भाषा, जीवन्त और प्रखर अनुभूति, प्रभावशाली प्रतिपादन और जीवन को उमंग से ओतप्रोत करने वाले तत्त्वों की सम्यक् विवेचना, उनकी प्रमुख विशेषताएं हैं। कुन्दकुन्द दक्षिण के हैं, उनमें ज्ञान का अपरंपार दाक्षिण्य है; सच पूछिये तो उत्तर के पास 'रयण-सार' का कोई उत्तर नहीं है। "सार"—कृतिकार महामुनि कुन्दकुन्द की प्रस्तुत कृति ने पूज्य मुनिश्री विद्यानन्दजी का ध्यान आकर्षित किया और उन्होंने अपनी इन्दौर-चातुर्मास-अवधि में नीमच के शासकीय महाविद्यालय के हिन्दी-विभाग में सेवारत विद्वान् प्राध्यापक और जैनदर्शन के मर्मज्ञ पंडित डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री को इसके व्यवस्थित संपादन का दायित्व सौंपा। डॉक्टर साहब ने पूज्य मुनिश्री की आज्ञा को शब्दशः शिरोधार्य किया और इसके संपादन में अपने समग्र मनःप्राण उंडेल दिये। उन्होंने जी-तोड़ मेहनत की और इसके संपादन में अपनी ओर से कहीं कोई कमी नहीं रहने दी। विद्वान् संपादक ने एक शोधपूर्ण भूमिका लिखकर आचार्य कुन्दकुन्द के महान् व्यक्तित्व पर भी व्यापक और अधिकृत प्रकाश डाला है तथा "रयण-सार" की प्रामाणिकता के तथ्य की भी परीक्षा की है। इस तरह शास्त्रीजी का परिश्रम स्तुत्य है, और उनके इस कृतित्व के लिए समाज को उनकी चिरकृतज्ञता स्वीकार करनी चाहिये। स्मरणीय है कि श्री वीरनिर्वाण ग्रन्थ-प्रकाशन समिति इस संदर्भ में उनका सार्वजनिक सम्मान कर चुकी है।

परम पूज्य मुनिश्री विद्यानन्दजी तो ज्ञान के महातीर्थ हैं, श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ-प्रकाशनसमिति का अस्तित्व ही उनका दिया है; प्रस्तुत प्रकाशन भी उन्हीं की प्रेरणा का अमृत फल है। हमें विश्वास है "रयण-सार" व्यापक रूप में पढ़ा जाएगा और आम पाठक उसकी महत्ता को समझेगा। कागज और मुद्रण की जानलेवा मंहगाई में भी समिति ने उम्दा कागज पर बहुविध सुविधाजनक टाइपों में इसे प्रकाशित करने का विनम्र प्रयास किया है। हमें आशा है स्वाध्यायानुरागी श्रावकों को "रयण-सार" आद्यन्त पसन्द आयेगा।

कला की दृष्टि से भी 'रयण-सार' के प्रकाशन की अपनी कुछ मौलिकताएँ हैं। मूलगाथाओं की आजू-बाजू जो मानस्तम्भ मुद्रित है, वह श्रवण-बेलगोला के भट्टारक श्री चारुकीर्ति स्वामीजी के सौजन्य से प्राप्त 'रयण-सार' की ताड़पत्रीय प्रति पर अंकित चित्र की ही अनुकृति है। आवरण का संयोजन भी मान्य स्वामीजी द्वारा उपलब्ध चन्द्रगिरि के शिलालेख से किया गया है। इसमें कुन्दकुन्दाचार्य की प्रशस्ति कन्नड़ लिपि में उत्कीर्ण है। इस महती कृपा के लिए हम पूज्य स्वामीजी के अत्यन्त कृतज्ञ हैं। ग्रन्थ के निर्दोष मुद्रण और उसकी कलात्मक प्रस्तुति में तीर्थंकर मासिक के सम्पादक डॉ. नेमीचंदजी जैन, नई दुनिया प्रेस के व्यवस्थापक श्री हीरालाल झांझरी, समिति के कोषाध्यक्ष भाई श्री माणकचन्दजी पांड्या तथा स्वयं सम्पादक ने जो परिश्रम किया है, उसे भुलाया नहीं जा सकता। अन्त में हम अपने इस संकल्प को दोहराना चाहेंगे कि पूज्य मुनिश्री के शुभाशीषों की सघन छाया में जैन-वाङ्मय की प्रभावना में जो भी उत्तमोत्तम कर सकेंगे, करेंगे।

—बाबूलाल पाटोदी

क्षमावणी
वीर निर्वाण संवत् 2500

पुरोपर्ण

जैनधर्म ने आचार और विचार के क्षेत्र में क्रान्तिकारी उपलब्धियाँ दी हैं। जैनों ने ही अहिंसा को सम्यक्चारित्र के राजमार्ग पर प्रचारित कर शान्ति, सद्भावना, मैत्री और व्यापक उदार वृत्ति की सम्भावनाओं को व्यावहारिक अवसर प्रदान किया है। "जिओ और जीने दो" अहिंसा-दर्शन रूपी क्षीर-सिन्धु से निकला हुआ महामूल्य मणि है, जो पशुबल के प्रतीक मत्स्यन्याय के विरोध में मानवता की विजय का सिंहनाद अथवा दुंदुभि-घोष है। विचार के क्षेत्र में अनेकान्त-धारा को प्रसारित कर जैन दर्शन ने सदियों में एकान्त मस्तिष्क की चिन्तन-ग्रन्थियों को उद्वेलित कर दिया है। तन और मन की बाह्याभ्यन्तर सकल ग्रन्थियों को खोलकर दिगम्बर हुए मुनियों ने चारित्र की चारुशाला में जिस वीतराग पाठ को पढ़ा है, उसकी निःसंदिग्ध प्रामाणिकता ने महाव्रतों की छाया में समाज को पंचशील (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) का अमृतफल प्रदान कर उसे अमर कर दिया है। प्रस्तुत 'रयणसार' ग्रंथ में उसी आचार और विचार पर श्रमण एवं श्रावक की शिक्षा के हेतु आचार्य कुन्दकुन्द ने तीर्थंकर महावीर की वाणी को गुरु-परम्परा से प्राप्त कर आर्ष विषय को गूँथा है।

वर्तमान समय में कई ओर से शिथिलाचार की आवाज उठ रही है। धर्म शिथिलाचार मे नहीं चलता। एरण्डवृक्ष की दुर्बल लकड़ी महाप्रासादों के लिए स्थूणा नहीं बन सकती। "चारित्तं खलु धम्मो"—धर्म का स्वरूप तो चारित्र ही है। यदि वह विचार मात्र बन जाएगा तो धर्म की साक्षात् स्थिति का लोप हो जाएगा। तीर्थंकर महावीर का वीतराग धर्म तो चारित्र में ही स्थित है। मणि को लाक्षा में आरोपित नहीं किया जाता और चारित्र रूप महामणि को शिथिलाचार रूप चाण्डाल के हाथों में नहीं दिया जा सकता। प्राचीनता का आदर्श सदैव रक्षणीय है। वह आदर्श ही तो हमें विगत सहस्र पीढ़ियों में मनु, पुरु आदि प्रवरवंश जगत-प्रदीपकों का दायाद बनाता है तथा उत्तराधिकार सौंपता है। आधुनिकता जहाँ तक प्राचीनता को सम्मान के साथ उच्चासन प्रदान करती है, वहाँ तक उसे साथ लेकर मूल सिद्धान्तों की यथावत् रक्षा करते हुए मोक्षमार्ग पर चलते रहना सनातन श्रमण-संस्कृति को अभीष्ट है। सुधारवाद के नाम पर शास्त्रों की

जो आत्मा द्रव्य गुण-पर्यायों को तथा परसमय-स्वसमय आदि भेदों को जानता है और आत्मा को भी जानता है, वह शिवगति—पथ का नायक होता है :—

आचार्योयत्तमरार्प्तरि तिलिद तत्वज्ञानिगल कोंडकुं—
डाचार्य सकलानयोगं दोलगं तत्सारमंकोंडु पू—
र्वाचार्यावलियेजेयि समयसार ग्रंथमंमाडि वि—
द्याचातुर्यमनी जगक्के मेरेदर चारित्र चक्रेश्वरर् ॥ —गोगामृत, ३

आत्मस्वरूप, आचार्यों में उत्तम, महान् तत्वज्ञानी, चारित्रचक्रवर्ती, आचार्य श्री कुन्दकुन्द के सम्पूर्ण अनुयोगों के सार का मन्थन कर पूर्वाचार्य परम्परा से प्राप्त आध्यात्मिक ज्ञान को "समयसार" प्राभृत की रचना के द्वारा अपनी स्वानुभव विद्याचातुरी के रूप में इस जगत् में सुकीर्ति को प्राप्त हुए।

धर्मानुरागी डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री द्वारा रयणसार का विद्वत्तापूर्ण सम्पादन स्वाध्यायी एवं अध्ययनार्थी को गमक सिद्ध होगा और डॉक्टर साहब का परिश्रम सफल होगा, ऐसा हमारा पूर्ण विश्वास है।

—मुनिश्री विद्यानन्द

प्रस्तावना

परिचय

भारतीय तत्त्व-चिन्तन के इतिहास में आगम-परम्परा का संवहन करते हुए महान् तत्त्वान्वेषी, स्वानुभूति स्वसंवेद्य परमात्म-परमानन्द को प्राप्त, आचार्य-शिरोमणि, चारित्रचक्रवर्ती, आध्यात्मिक ज्ञान-गंगा प्रवाहित करने वाले भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य का व्यक्तित्व सूर्य और चन्द्र के समान स्वयं प्रकाशित है। उनके तत्त्वज्ञान में जहाँ निर्मल ज्ञान की भास्वर दिनकर-कर-निकर की छटाएँ लक्षित होती हैं, वहीं अहिंसा, करुणा, समता और वैराग्य की शीतलता भी प्राप्त होती है। यह अद्भुत समन्वय हमें भारतीय चिन्तकों में केवल आचार्य कुन्दकुन्द में ही परिलक्षित होता है। उन्होंने अपने युग की जनसामान्य बोली में परमतत्त्व का जो सार निबद्ध किया है, वह वास्तव में अनुपम है। भारतीय मनीषी उस परमतत्त्व को केवल स्वानुभूति से ही उपलब्ध कर सकता है। किन्तु उस अखण्ड, अतीन्द्रिय, स्वसंवेद्य और परब्रह्म स्वरूप परमात्व तत्त्व को उपलब्ध करने की विधि क्या है? आचार्य कुन्दकुन्द का चिन्तन स्पष्ट है कि आत्मज्ञान के बिना परमतत्त्व की उपलब्धि नहीं हो सकती। आत्मज्ञान स्वात्मानुभूति का विषय है। स्वात्मानुभूति को उपलब्ध करने के लिए सर्वप्रथम दृष्टि सम्यक् होनी चाहिए। सम्यक्दृष्टि बनने के लिए आचार-विचारों में निर्मलता और आत्मतत्त्व में रुचि होना आवश्यक है। जब तक दृष्टि नहीं पलटती है, तब तक दुःख नहीं छूटता है। इस प्रकार जगत्, जीवन और आत्मा की संश्लेषात्मक तथा विश्लेषात्मक दशाओं का एक वैज्ञानिक रूप से वर्णन किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भाव की सत्ता को शाश्वत, अव्यय और अविनाशी बताया है। इसी प्रकार शब्द को पौद्गलिक, स्कन्धों को विभाज्य तथा पुद्गल के स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश और परमाणु आदि भेद अत्याधुनिक विज्ञान के क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक चिन्तन के निदर्शक हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द का जन्म दक्षिण भारत में हुआ था। श्रवणबेलगोल के शिलालेख में उनका नाम 'कोण्डकुन्द' मुनीश्वर कहा गया है। 'कोंड-कुंदपुर' के निवासी होने के कारण उन का नाम 'कुंदकुंद' प्रचलित हुआ, बताया जाता है। पुरातत्त्वीय प्रमाणों के आधार पर अब यह निश्चित हो चुका है कि आचार्य कुन्दकुन्द का जन्म-स्थान आधुनिक 'कोन्कोण्डल' ग्राम है, जो अनन्तपुर जिले में गुट्टी तालुक में गुन्टकल रेल्वे-स्टेशन से लगभग चार मील की दूरी पर स्थित है। 'कोण्ड' कन्नड़ भाषा का शब्द

जो आत्मा द्रव्य गुण-पर्यायों को तथा परसमय-स्वसमय आदि भेदों को जानता है और आत्मा को भी जानता है, वह शिवगति—पथ का नायक होता है :-

आचार्योत्तमराप्तर्तिर तिलिद तत्वज्ञानिगल कोंडकुं—
डाचार्य सकलानयोगं दोलगं तत्सारमंकोंडु पू—
र्वाचार्यावलियेोजेयि समयसार ग्रंथमंमाडि वि—
द्याचातुर्यमनो जगक्के मेरेदर चारित्र चक्रेश्वरर् ॥ —गोगामृत, ३

आप्तस्वरूप, आचार्यों में उत्तम, महान् तत्त्वज्ञानी, चारित्रचक्रवर्ती, आचार्य श्री कुन्दकुन्द के सम्पूर्ण अनुयोगों के सार का मन्थन कर पूर्वाचार्य परम्परा से प्राप्त आध्यात्मिक ज्ञान को "समयसार" प्राभृत की रचना के द्वारा अपनी स्वानुभव विद्याचातुरी के रूप में इस जगत् में सुकीर्ति को प्राप्त हुए।

धर्मानुरागी डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री द्वारा रयणसार का विद्वत्तापूर्ण सम्पादन स्वाध्यायी एवं अध्ययनार्थी को गमक सिद्ध होगा और डॉक्टर साहब का परिश्रम सफल होगा, ऐसा हमारा पूर्ण विश्वास है।

—मुनिश्री विद्यानन्द

प्रस्तावना

परिचय

भारतीय तत्त्व-चिन्तन के इतिहास में आगम-परम्परा का संवहन करते हुए महान् तत्वान्वेषी, स्वानुभूति स्वसंवेद्य परमात्म-परमानन्द को प्राप्त, आचार्य-शिरोमणि, चारित्रचक्रवर्ती, आध्यात्मिक ज्ञान-गंगा प्रवाहित करने वाले भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य का व्यक्तित्व सूर्य और चन्द्र के समान स्वयं प्रकाशित है। उनके तत्त्वज्ञान में जहाँ निर्मल ज्ञान की भास्वर दिनकर-कर-निकर की छटाएँ लक्षित होती हैं, वहीं अहिंसा, करुणा, ममता और वैराग्य की शीतलता भी प्राप्त होती है। यह अद्भुत समन्वय हमें भारतीय चिन्तकों में केवल आचार्य कुन्दकुन्द में ही परिलक्षित होता है। उन्होंने अपने युग की जनसामान्य बोली में परमतत्त्व का जो सार निबद्ध किया है, वह वास्तव में अनुपम है। भारतीय मनीषी उस परमतत्त्व को केवल स्वानुभूति से ही उपलब्ध कर सकता है। किन्तु उस अखण्ड, अतीन्द्रिय, स्वसंवेद्य और परब्रह्म स्वरूप परमात्व तत्त्व को उपलब्ध करने की विधि क्या है? आचार्य कुन्दकुन्द का चिन्तन स्पष्ट है कि आत्मज्ञान के बिना परमतत्त्व की उपलब्धि नहीं हो सकती। आत्मज्ञान स्वात्मानुभूति का विषय है। स्वात्मानुभूति को उपलब्ध करने के लिए सर्वप्रथम दृष्टि सम्यक् होनी चाहिए। सम्यक्दृष्टि बनने के लिए आचार-विचारों में निर्मलता और आत्मतत्त्व में रुचि होना आवश्यक है। जब तक दृष्टि नहीं पलटती है, तब तक दुःख नहीं छूटता है। इस प्रकार जगत्, जीवन और आत्मा की संश्लेषात्मक तथा विश्लेषात्मक दशाओं का एक वैज्ञानिक रूप से वर्णन किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भाव की सत्ता को शाश्वत, अव्यय और अविनाशी बताया है। इसी प्रकार शब्द को पौद्गलिक, स्कन्धों को विभाज्य तथा पुद्गल के स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश और परमाणु आदि भेद अत्याधुनिक विज्ञान के क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक चिन्तन के निदर्शक हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द का जन्म दक्षिण भारत में हुआ था। श्रवणबेलगोल के शिलालेख में उनका नाम 'कोण्डकुन्द' मुनीश्वर कहा गया है। 'कोंड-कुंदपुर' के निवासी होने के कारण उन का नाम 'कुंदकुंद' प्रचलित हुआ, बताया जाता है। पुरातत्त्वीय प्रमाणों के आधार पर अब यह निश्चित हो चुका है कि आचार्य कुन्दकुन्द का जन्म-स्थान आधुनिक 'कोन्कोण्डल' ग्राम है, जो अनन्तपुर जिले में गुट्टी तालुक में गुन्टकल रेल्वे-स्टेशन से लगभग चार मील की दूरी पर स्थित है। 'कोण्ड' कन्नड़ भाषा का शब्द

है, जिसका अर्थ 'पहाड़ी' है। पर्वत पर या पहाड़ी स्थान के निकट बसा होने के कारण यह 'कोण्डकुंड' कहा जाता था। यह आज भी पर्वतमालाओं से सटा हुआ है। यद्यपि आज यह आन्ध्र प्रदेश में है, पर उस समय में यह कर्नाटक प्रदेश में था। शिलालेखों में स्पष्ट रूप से कई स्थानों पर इसका उल्लेख मिलता है।

यद्यपि आचार्य कुन्दकुन्द के मूल नाम का पता नहीं है, किन्तु सम्भवतः उनका मूल नाम पद्मनन्दि था। यह नाम मुनि अवस्था का था। उनके अन्य नाम व्यक्तित्व के परिचायक हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के वक्रग्रीव, महामति, एलाचार्य, गृद्धपृच्छ और पद्मनन्दी इन पाँच नामों का उल्लेख मिलता है। एक गुरु पट्टावली के अनुसार आचार्य कुन्दकुन्द का जन्म वि. संवत् ४९ में पौष कृष्ण अष्टमी को हुआ था। वे केवल ग्यारह वर्ष की अवस्था तक घर में रहे। उनके जन्म काल से ही माता अध्यात्मरस में अवगाहन करने लगी थी और घंटों तक बालक को पालने में झुलाती हुई "शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि, संसार-माया परिवर्जितोऽसि" की लोरियाँ गा-गा कर सुनाया करती थीं। इसलिये छोटी अवस्था में ही वे संसार से विरक्त हो अध्ययन-मनन में लीन हो गए। युवा-काल में तैंतीस वर्ष की अवथा में उन्होंने संन्यास ग्रहण किया था। वे इक्यावन वर्षों तक आचार्य पद को अलंकृत करते रहे। उनकी आयु ९५ वर्ष, १० मास और १५ दिन की कही गयी है।

समय तथा युग

शेषगिरि राव ने अपने लेख "द एज ऑव कुन्दकुन्द" में विस्तारपूर्वक लिखते हुए कहा है कि मेरे पास तमिल साहित्य में और लोकबोली में इस बात के अनेक प्रमाण हैं कि जिस प्रकार की प्राकृत में आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थ निबद्ध किए हैं, वह केवल समझी ही नहीं जाती थी; वरन् आन्ध्र और कलिंग प्रदेशों में जन सामान्य के द्वारा व्यवहृत थी। इस युग की उपलब्ध रामतीर्थम् की मिट्टी की सीलें और अमरावती के शिलालेख इस प्राकृत बोली से साम्य रखते हैं। अतएव मेरी समझ में यह युग ईसा की प्रारम्भिक प्रथम या द्वितीय शताब्दी होना चाहिए (द्रष्टव्य है : जैन गजट, १८ अप्रेल, १९२२, पृ. ९१)। भाषा की दृष्टि से विचार करने पर यह कथन पूर्णतः सत्य प्रतीत होता है। क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं में प्रयुक्त प्राकृत प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं की अन्तःस्वरीय ध्वनिग्रामिक सरंचना के अधिक निकट है। शक संवत् ३८८ में उत्कीर्ण मर्करा के ताम्रपत्रों में कोण्डकुन्दान्वय की परम्परा के छह प्राचीन आचार्यों का उल्लेख मिलता है। डॉ. ए. चक्रवर्ती ने 'पंचास्तिकाय' की प्रस्तावना में और डॉ. ए. एन. उपाध्ये ने 'प्रवचनसार' के परिचय में आचार्य कुन्दकुन्द का समय ईसा की प्रथम शताब्दी माना है। मूल में 'कोण्डकुंद' कन्नड़ शब्द है, जो 'पर्वत अर्थ का वाचक है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस कन्नड़ शब्द का इतिहास तथा दक्षिण भारत में उपलब्ध प्राचीनतम सांस्कृतिक सामग्री ईसा से कई शताब्दी पूर्व जैन धर्म का अस्तित्व सिद्ध करती है। श्री पी. बी. देसाई प्रबल प्रमाणों के साथ आचार्य कुन्दकुन्द को ईसा की प्रथम शताब्दी में उत्पन्न मानते हैं। उनके समर्थन में एक अन्य प्रमाण भी उपलब्ध होता है कि तिरुवल्लुवर तथाकथित 'तिरुक्कुरल' के रचनाकार और आचार्य कुन्दकुन्द एक ही थे। तिरुवल्लुवर का रचना-काल ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग माना

जाता है। 'तिरुवल्लुवर' में 'तिरु' आदरसूचक उपसर्ग है। उनका वास्तविक नाम अज्ञात है। उनकी प्रसिद्ध रचना 'तिरुक्कुरल' या 'थिरुकुरल' मानी जाती है। प्रो. ए. चक्रवर्ती के अनुसार निश्चित ही यह तिरुक्कुरल एलाचार्य अर्थात् आचार्य कुन्दकुन्द की अमर रचना है। इसका सब से बड़ा प्रमाण यही है कि इस रचना में प्रयुक्त अपरिग्रह, सूनृता, अरम-अमण (श्रमण) तथा थेर आदि जैनों के पारिभाषिक शब्द हैं। इस कृति का रचनाकाल ईसा की प्रथम और द्वितीय शताब्दी अथवा इससे पूर्व मानने वालों में श्री के. एन. शिवराज पिल्लै, श्री टी. एस. कन्दसामी मुदलियार, श्री वी. आर. रामचन्द्र दीक्षितार, श्री पूर्ण सोमासुन्दरम्, मु. गो. वेन्कट कृष्णन, डॉ. ओमप्रकाश, श्री टी. पी. मीनाक्षीसुन्दरम्, श्री अवधनन्दन, जी. एस. दुरैस्वामी, इत्यादि अनेक विद्वान् हैं।

(डॉ. रवीन्द्रकुमार सेठ : तिरुवल्लवर एवं कबीर का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. ६)

यह भी द्रष्टव्य है कि तमिल का प्राचीनतम साहित्य जैन साहित्य है। पं. के. भुजबली शास्त्री के अनुसार तमिल संघकाल की रचनाओं में तिरुक्कुरल ही अन्तिम रचना है। तमिल भाषा के आदि कवि जैन ही हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द निश्चित रूप से ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग हुए थे। इसका सब से प्रबल प्रमाण "प्रवचनसार" की वह गाथा है, जो प्रथम शती के प्राकृत के महाकवि विमलसूरि के 'पउमचरिय' में उपलब्ध होती है। 'प्रवचनसार' की यह गाथा है—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।

इसी गाथा का भाव पं. दौलतराम कृत 'छहढाला' में वर्णित है—

कोटि जन्म तप तपै, ज्ञान बिन कर्म झरें जे।
ज्ञानी के छिन माँहि, त्रिगुप्ति तें सहज टरें ते॥

उक्त गाथा कुछ शब्दों के हेर-फेर के साथ 'पउमचरिय' में है—

जं अन्नाण तवस्सी खवेइ भवसयसहस्सकोडीहिं।
कम्मं तं तिहि गुत्तो खवेइ नाणी मुहुत्तेणं ॥१२०, १७७॥

इससे मिलती-जुलती गाथा 'तित्थोगाली' में उपलब्ध होती है, जो एक अंगबाह्य रचना मानी जाती है और जो कई स्थलों पर आ. कुन्दकुन्द के मूलाचार से साम्य रखती है। गाथा है—

जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुयाहिं वासकोडीहिं।
तं नाणी तिहिं गुत्तो खवेइ उस्सासमेत्तेणं ॥१२१३॥

गुरुपट्टावली के अनुसार विभिन्न पट्टावलियों में उन्हें मूलसंघ का नायक कहा गया है। प्रो. हॉर्नले द्वारा निर्मित पट्टावली के अनुसार आचार्य कुन्दकुन्द का समय ई. ८ कहा गया है। (इण्डियन एन्टिक्वेरी, जिल्द २१, पृ. ६०-६१)।

उमास्वामी आचार्य कुन्दकुन्द के परवर्ती हैं। अधिकतर पट्टावलियों में उनका जन्म संवत् १०१, कार्तिक शुक्ल अष्टमी कहा गया है। किसी-किसी गुर्वावली में उनसे काष्ठासंघ की उत्पत्ति मानी गयी है। उन दोनों

प्राकृत पट्टावलि में आचार्य कुन्दकुन्द के दीक्षागुरु का नाम जिनचन्द्राचार्य दिया हुआ मिलता है। उनके पिताश्री का नाम करमुण्ड और माताजी का नाम श्रीमती था। वे महाजन श्रेष्ठी थे। आचार्य कुन्दकुन्द आजन्म ब्रह्मचारी रहे। साधक अवस्था में उन्होंने घोर तपश्चर्याएँ की थीं। मलयदेश के अन्तर्गत हेम ग्राम था, जो कि वर्तमान में पोन्नूर के सन्निकट नीलगिरि पर्वत की शृंखला में कुन्दकुन्दाद्रि के नाम से प्रसिद्ध है—कहा जाता है कि यह नीलगिरि-शिखर आ. कुन्दकुन्द की पावन चरण-रज से परिव्याप्त है। इसी प्रकार से कांचीपुर (वर्तमान कांजीपुरम) उस युग में जैन धर्म का महान् केन्द्र था। आचार्य कुन्दकुन्द का अधिकांश समय यहीं पर व्यतीत हुआ था।

रचनाएं

श्री जुगलकिशोर मुख्तार ने आचार्य कुन्दकुन्द की २२ रचनाओं का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार हैं— १. प्रवचनसार, २. समयसार, ३. पंचास्तिकाय, ४. नियमसार, ५. वारस-अणुवेक्खा, ६. दंसणपाहुड, ७. चारित्तपाहुड, ८. सुत्तपाहुड, ९. बोधपाहुड, १०. भावपाहुड, ११. मोक्खपाहुड, १२. लिंगपाहुड, १३. शीलपाहुड, १४. रयणसार, १५. सिद्ध-भक्ति, १६. श्रुतभक्ति, १७. चारित्रभक्ति, १८. योगि (अनगार) भक्ति, १९. आचार्यभक्ति, २०. निर्वाणभक्ति, २१. पंचगुरु (परमेष्ठि) भक्ति, २२. थोस्सामि थुदि (तीर्थंकरभक्ति)।

इनके अतिरिक्त 'मूलाचार' और 'थिरुकुरल' भी आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाएं प्रमाणित हो चुकी हैं। इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द की रची हुई चौबीस रचनाएं उपलब्ध होती हैं। इनके अतिरिक्त कुछ स्तोत्र भी लिखे हुए मिलते हैं।

डॉ. ए. एन. उपाध्ये प्रवचनसार की भूमिका में यह निर्णय पहले ही कर चुके हैं कि मूलाचार आचार्य कुन्दकुन्द की रचना है। स्व. आचार्य शान्तिसागरजी म. आ. कुन्दकुन्द के मूलाचार को शोलापुर से प्रकाशित करवा चुके हैं। उनकी रचनाओं से भी यह प्रमाणित होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द मुनि-चर्या के सम्बन्ध में अत्यन्त सावधान एवं जागरूक थे। अतएव आचार सम्बन्धी किसी ग्रन्थ की रचना अवश्य की थी।

थिरुकुरल

यह एक अत्यन्त आश्चर्यजनक बात है कि जैन और शैव दोनों ही तिरुक्कुरल को पवित्र ग्रन्थ मानते हैं। नीलकेशी नामक बौद्ध ग्रन्थ के विशद भाष्यकार जैन मुनि समय-दिवाकर इस ग्रन्थ को महान् बताते हैं। यद्यपि इस रचना के प्रारम्भिक मंगलाचरण में कवि ने किसी भगवान् की संस्तुति का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, फिर भी कमलगामी, अष्ट-गुणयुक्त (सिद्धों के अष्टगुण) प्रयुक्त विशेषणों से तथा उपलब्ध जैन पारिभाषिक शब्दावली से यह स्पष्ट है कि इस कृति के रचनाकार जैन थे। कवि के कुछ स्तुतिपरक वाक्य इस प्रकार हैं—धन्य है उस पुरुष को जो आदि परमपुरुष के पादारविन्द में रत रहता है, जो न किसी से राग करता है और न किसी से द्वेष (ईश्वरस्तुति प्रकरण, ४)। "यदि तुम सर्वज्ञ परमेश्वर के श्रीचरणों की पूजा नहीं करते हो, तो तुम्हारी यह सम्पूर्ण विद्वत्ता किस काम की है?"

"जो लोग उस परम जितेन्द्रिय पुरुष के दर्शाए हुए धर्म-मार्ग का अनुसरण करते हैं, वे अमरपद प्राप्त करते हैं।"

"जो मनुष्य अष्टगुण संयुक्त परब्रह्म के चरणकमलों में नमन नहीं करता, वह उस अशक्त इन्द्रिय के समान है जिसमें अपने गुण को ग्रहण करने की शक्ति नहीं है।"

यद्यपि प्रचलित धारणा के अनुसार इस काव्य के रचयिता तिरुवल्लुवर अर्थात् सन्त वल्लुवर हैं और यह 'तमिलवेद' है, किन्तु कनकसभाई पिल्लै, एस. वियपुरी पिल्लै, और टी. वी. कल्याणसुन्दर मुदलियार ने स्पष्ट रूप से इसमें अहिंसा धर्म का प्रतिपादन होने के कारण इसे जैन-रचना बताया है। पाश्चात्य विद्वानों में एलिस और ग्राउल का भी यही निश्चित विचार है। प्रो. ए. चक्रवर्ती, अणुव्रतपरामर्शक मुनिश्री नगराजजी तथा पं. के. भुजबली शास्त्री इसे आचार्य कुन्दकुन्द की ही रचना मानते हैं। प्रो. ए. चक्रवर्ती के अनुसार तमिल के प्रसिद्ध कवि मामूलनार का समय ईसा की प्रथम शताब्दी माना जाता है। उनका स्पष्ट कथन है कि कुरल के वास्तविक रचयिता थीवर हैं; न कि वल्लुवर। किन्तु अज्ञानी लोग वल्लुवर को उसका रचयिता बताते हैं। परन्तु बुद्धिमान लोग मूर्खों की ऐसी बातें स्वीकार नहीं करते। स्वयं प्रो. चक्रवर्ती ने आचार्य कुन्दकुन्द के थीवर और एलाचार्य इन दो नामों का उल्लेख किया है। मूल ताड़पत्र प्रतियों के अध्ययन से पता चलता है कि इस ग्रन्थ के टीकाकार भी जैन थे। एक प्रति में स्पष्ट रूप से लिखा हुआ मिलता है—एलाचार्य विरचितं थिरुक्कुरल।

जैन विद्वान् 'जीवकचिन्तामणि' ग्रन्थ के टीकाकार नच्चिनार किनियर ने अपनी टीका में सर्वत्र रचनाकार का नाम थीवर निर्दिष्ट किया है। वास्तव में तिरु, थिरु या थीवर कोई नाम न होकर विशेषण है। इसलिए यह कहा गया है कि तमिल साहित्य में सामान्यतः 'थीवर' शब्द का प्रयोग जैन श्रमण के अर्थ में किया जाता है। इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि ईसा पूर्व शताब्दी में मिस्र में जैन श्रवण तपस्वियों को 'थेरापूते' कहा जाता था। थेरापूते का अर्थ है—मौनी, अपरिग्रही। यथार्थ में 'थेर' या 'थेरा' अथवा 'थीवर' शब्द मूल 'स्थविर' शब्द से निष्पन्न हुआ है। 'स्थविर' शब्द का अर्थ है—निर्ग्रन्थ मुनि। कन्नड़ में 'थेर' का अर्थ है—तत्त्वज्ञानी। इसके अन्य अर्थ हैं—रथ, ऊँचा। स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द ने 'स्थविर' के लिए 'थेर' शब्द का प्रयोग किया है। उनके ही शब्दों में—

'गुरू-आयरिय-उवज्झायाणं पव्वतित्थेरकुलयराणं णमंसामि।'

—निगिद्धिकादण्डक

'पव्वतित्थेरकुलयराणं' का अर्थ है—'प्रवर्तितस्थविरकुलकराणां'।

इस प्रकार 'थिरुकुरल' दो शब्दों से मिल कर बना है—'थिरु' और 'कुरल'। थिरु का अर्थ स्थविर है और 'कुरल' का अर्थ एक छन्द है। स्थविर ने कुरल छन्द में जिसे गाया था, वह थिरुक्कुरल है। कुरल छन्द संस्कृत के अनुष्टुप् श्लोक से भी छोटा कहा गया है। यह तमिल का विशिष्ट छन्द है, जो 'थिरुक्कुरल' की रचना के अनन्तर प्रचलित हुआ। तमिल साहित्य की जैन रचनाओं में थिरुक्कुरल, नालडियार, मणिमेखलै, शिलप्पधिकार और जीवकचिन्तामणि अत्यन्त प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। थिरुक्कुरल में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ का मुख्य रूप से प्रतिपादन किया गया है। इस

रचना में अधिकतर उक्तियाँ नीतिपरक हैं, इसलिए इसे काव्यात्मक नीतिरचना भी कहा गया है। प्रो. चक्रवर्ती के अनुसार तिरुवल्लुवर आचार्य कुन्दकुन्द के शिष्य थे। आचार्य कुन्दकुन्द ने इस ग्रन्थ की रचना कर सार्वभौमिक नैतिक सिद्धान्तों के प्रचार के लिए उसे अपने शिष्य तिरुवल्लुवर को सौंप दिया था। श्रावक तिरुवल्लुवर इस रचना को लेकर मदुरा की सभा में गए और वहाँ विद्वानों के समक्ष यह ग्रन्थ प्रकट किया। तभी से तिरुवल्लुवर इसके रचयिता प्रसिद्ध हो गए। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि न केवल तमिल प्रदेश में, वरन् सारे भारतवर्ष में इसके पूर्व ऐसी सुन्दर रचना किसी सन्त ने नहीं की। तभी तो भारतीय संस्कृति के मर्मज्ञ चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य का कथन है—यदि कोई चाहे कि भारत के सम्पूर्ण साहित्य का मुझे पूर्ण रूप से ज्ञान हो जाए तो तिरुकुरल को पढ़े बिना उसका अभीष्ट सिद्ध नहीं हो सकता। "(द्रष्टव्य है : तिरुकुरल (तमिलवेद) : एक जैन रचना-मुनिश्री नगराज के लेख से उद्धृत।)"

पंचास्तिकाय

विषय-रचना की दृष्टि से आचार्य कुन्दकुन्द ने सर्वप्रथम 'पंचास्तिकाय' ग्रन्थ की रचना की होगी। क्योंकि इसमें विश्व के मूल पदार्थों का विवेचन किया गया है। विश्व की रचना जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों के परस्पर संयोग से मानी जाती है। आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में "ये छहों द्रव्य परस्पर अवकाश देते हैं, दूध में पानी की तरह मिल जाते हैं, फिर भी अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं।" (पंचास्तिकाय, गाथा ७)।

द्रव्य का लक्षण करते हुए उन्होंने कहा है कि जो सत् है और जिसमें उत्पाद (उत्पत्ति), व्यय (विनाश) और ध्रौव्य (नित्यता) है, वह द्रव्य है। 'द्रव्य' शब्द का अर्थ ही है कि जो स्थिर रहता हुआ भी बनता-बिगड़ता रहे। प्रत्येक वस्तु भाववान है और सत्ता भाव है। सत्ता सत् का भाव या अस्तित्व है, जिससे वस्तु मात्र का अस्तित्व सिद्ध होता है और जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीन लक्षणों से युक्त है। इस प्रकार तत्त्व-चिन्तन के क्षेत्र में, दार्शनिक जगत् में आचार्य कुन्दकुन्द अपनी मौलिक स्थापना के कारण आज भी अजेय हैं।

प्रवचनसार

द्रव्य का स्वरूप ज्ञात होने पर ही उनके परस्पर संयोग सम्बन्ध अनुबन्धों और अर्थक्रिया आदि का ज्ञान हो सकता है। 'प्रवचनसार' में मुख्य रूप से ज्ञान और ज्ञेय तत्त्व का वर्णन किया गया है। आचार्य कहते हैं—"जो ज्ञानात्मक आत्मा को स्व चैतन्य द्रव्यत्व से संबद्ध और अपने से भिन्न अन्य को परद्रव्यत्व से संबद्ध जानता है, वह मोह का क्षय करता है।" (प्रवचनसार, गाथा ८९)

समयसार

समयसार आचार्य कुन्दकुन्द की सब से अधिक प्रौढ़ तथा श्रेष्ठ रचना है। इसमें प्रमुख रूप से शुद्ध आत्मानुभूति का वर्णन किया गया है, जो भावलिंगी श्रमण को उपलब्ध होती है। 'समयसार' का अर्थ निर्मल आत्मा है। निर्ग्रन्थ मुनि निर्मल आत्मा बनते हैं। शुद्ध आत्मा को उपलब्ध होना ही शिवत्व पद की प्राप्ति करना है। शिवत्व की प्राप्ति भेद-

विज्ञान से ही सम्भव है। विशिष्ट भेदज्ञान के बल से जब जीव कर्मबन्ध और आत्मा को ज्ञान और तप से पृथक् कर देता है, तब सहज समाधि में अवस्थित होकर शुद्धात्म संवितिरूप, वीतराग, स्वयंसेवक ज्ञान में लीन होता है। बन्ध के और आत्मा के स्वभाव को जानकर निर्विकल्प समाधि में स्थिर रहने वाला परमयोगी ही वीतराग दशा को प्राप्त कर कर्मों को निर्मूल कर सकता है। कर्मों का उन्मूलन कर देने पर शिवत्व की प्राप्ति होने में विलम्ब नहीं लगता है। इस प्रकार समयसार को उपलब्ध करने योग्य परमतपस्वी मुनि कहे गये हैं। 'समयसार' में नौ अधिकार हैं। इनमें क्रमशः जीव-अजीव, कर्त्ता-कर्म, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष और सर्वविशुद्ध ज्ञान का प्रतिपादन किया गया है।

नियमसार

उक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि पंचास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार एक क्रम से रची गई आध्यात्मिक रचनाएँ हैं। 'नियमसार' में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों को मिलाकर मोक्ष का मार्ग निरूपित किया गया है। इसमें जीव के बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा ये तीन भेद किये गये हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के वचन हैं—"व्यवहार नय से केवली भगवान् सब जानते हैं और सब देखते हैं, किन्तु परमार्थ से केवलज्ञानी आत्मा को जानते हैं और देखते हैं।" (प्रवचनसार, गाथा १५९)

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने व्यवहार और परमार्थ दोनों दृष्टियों का वर्णन किया है। अपने किसी भी ग्रन्थ में उन्होंने अपनी इस युगपत् दृष्टि को त्यागा नहीं है। दोनों नयों (दृष्टिकोण) को ध्यान में रखकर सर्वत्र विवेचन किया गया है। इसी प्रकार से ज्ञान को स्व-पर प्रकाशक कहा गया है। जब ज्ञान सहज परमात्मा को जान लेता है, तब अपने आप को और लोक-अलोक के समस्त पदार्थों को प्रकाशित करता है।

इस सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि अत्यन्त विशद एवं स्पष्ट है। अनुभूति और तर्क की कसौटी पर वह खरी उतरती है। उस में मौलिकता और चिन्तन की गम्भीरता है। अतएव नय-पक्षों से और पक्षातीत स्वानुभूति का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है। 'नियमसार' और 'रयणसार' दोनों ही रचनाओं में आचार सम्बन्धी वर्णन होने के कारण जहाँ व्यवहार नय से प्रतिपादन किया गया है, वहीं निश्चय नय का कथन छूटने नहीं पाया है। आचार्य दोनों नयों को तथा प्रमाणों को ध्यान में रखकर कथन करते हैं। यही अनेकान्त-दृष्टि है। कहा भी है—

> इदि णिच्छयववहारं जं भणियं कुन्दकुन्दमुणिणाहें।
> जो भावइ सुद्धमणो सो पावइ परमणिव्वाणं ।। द्वादशानुप्रेक्षा, ९१

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के समयसार, प्रवचनसार और नियमसार को 'नाटकत्रय' भी कहा जाता है। श्री नेमिचन्द्र ने 'सूर्यप्रकाश' में कहा है—

> अन्ते समयसारं च नाटकं च शिवार्थदं,
> पंचास्तिकायनामाढ्यं वीरवाचोपसंहितम् ।
> आद्यं प्रवचनञ्चैव मध्यस्थं सारसंज्ञकं,
> सम्बोधार्थं च भव्यानां चक्रे सत्यपदार्थदम् ।।

अध्यात्मागमिश्रं ग्रन्थं श्रावकाचारमञ्जसा,
ध्यानग्रन्थं क्रियापाठं प्रत्याख्यानादिसद्विधीन् ।
दोषव्याहृतनाशार्थं प्रतिक्रमणसंयुतं,
मुनीना न गृहस्थानां चक्रे सामायिकं तदा ॥
जिनेन्द्रस्नानपाठं न स्नपनार्थं जिनस्य वै,
यस्याकरणमात्रेण प्राप्नवन्ति सुरसुखम् ।
प्रभूणां पूजनं नापि तेषां गुणविभूषित्तं,
स्तवनं चित्तरोधार्थं रचयामास स मुनिः॥
—सूर्यप्रकाश, ३४५-३५०

इससे स्पष्ट है कि 'समयसार' सभी रचनाओं के अन्त में रचा गया। यथार्थ में आचार्य कुन्दकुन्द ने अध्यात्मविषयक स्तोत्र-स्तुति, पूजा-पाठ आदि कोई भी विषय नहीं छोड़ा, जिस पर अपनी लेखनी न चलाई हो। इन सभी रचनाओं में हमें दो बातें मुख्य लक्षित होती हैं: प्रथम भाव-विशुद्धि और दूसरे पर-पदार्थों से आसक्ति को हटाना। 'रयणसार' में भी यही वृत्ति मुख्य है।

रयणसार

जिस प्रकार 'प्रवचनसार' में आगम के सारभूत शुद्धात्म तत्त्व का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार 'नियमसार' में नियम के साररूप शुद्ध रत्नत्रय का और 'समयसार' में शुद्ध आतमा का वर्णन किया गया है। ये तीनों ही ग्रन्थ सातवें गुणस्थानवर्ती श्रमण को ध्यान में रखकर लिखे गए हैं। और अन्त में सहजलिंग से ही मुक्ति का प्रतिपादन किया गया है। इस भाव को आचार्य जयसेन ने अपनी टीका में अत्यन्त विशदता और स्पष्टता के साथ निरूपित किया है। उनके ही शब्दों में—

"यद्यप्ययं व्यवहारनयो बहिर्द्रव्यावलम्बत्वेनाभूतार्थस्तथापि रागादिबहिर्द्रव्यावलम्बनरहितविशुद्धज्ञानस्वभावस्वावलम्बनसहितस्य परमार्थस्य प्रतिपादकत्वाद्दर्शयितुमुचितो भवति। यदा पुनर्व्यवहारनयो न भवति तथा शुद्धनिश्चयनयेन त्रसस्थावरजीवा न भवंतीति मत्वा निःशंकोपमर्दनं कुर्वन्ति जनाः।"

यथार्थ में अध्यात्मशास्त्र को समझने के लिए व्यवहार और निश्चय दोनों ही दृष्टियों की अपेक्षा है। निरपेक्षनय मिथ्या कहे गये हैं। व्यवहार नय अपनी अपेक्षा से सत्य है, पर निश्चय नय की अपेक्षा से असत्यार्थ एवं अभूतार्थ है। आ. अमृतचन्द्र के शब्दों में—"न चैतद्विप्रतिपिद्धं निश्चय-व्यवहारयोः साध्यसाधनभावत्वात्सुवर्णस्वर्णपापाणवत्। अतएवोभयनयायत्ता पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्तनेति।" —पंचास्तिकाय, १५९ वीं गाथा की टीका।

निश्चय साध्य है और व्यवहार साधन। इन दोनों दृष्टियों को लेकर आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों की रचना की है। अतएव 'ज्ञानी ज्ञान का कर्त्ता है" यह कथन भी व्यवहार है। व्यवहार कारण है और निश्चय कार्य। कहा भी है—

मोक्षहेतुः पुनर्द्वेधा निश्चयाद्-व्यवहारतः ।
तत्र आद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥
—तत्त्वानुशासन, २८

तथा— जीवोऽप्रविश्य व्यवहारमार्गं, न निश्चयं ज्ञातमुपैति शक्तिम्।
प्रभाविकाशेक्षणमन्तरेण, भानूदयं को वदते विवेकी ॥
आराधनासार, ७, ३०

स्वसंवेदन की अनुभूति शब्दों में वर्णित नहीं की जा सकती। इसलिए जन सामान्य को ध्यान में रखकर 'अष्टपाहुड' आदि जिन ग्रन्थों की रचना की गयी, उनमें 'रयणसार' व्यवहाररत्नत्रय का प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ है। अन्य रचनाओं की भाँति इसमें भी शुद्ध आत्मतत्त्व को लक्ष्य में रखकर गृहस्थ और मुनि के संयमचारित्र का निरूपण किया गया है। मुख्य रूप से यह आचारशास्त्र है। निम्नलिखित समानताओं के कारण यह आचार्य कुन्दकुन्द की रचना सिद्ध होती है:—

(१) संघटना की दृष्टि से आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—सारमूलक रचनाएँ और पाहुड-मूलक। भक्ति और स्तुतिविषयक रचनाएँ इनसे भिन्न हैं। प्रवचनसार, समयसार और रत्नसार (रयणसार) के अन्त में 'सार' शब्द का संयोग ही रचना-सादृश्य को सूचित करता है।

(२) प्रवचनसार, नियमसार, और रयणसार का प्रारम्भ तीर्थंकर महावीर के मंगलाचरण से होता है। 'नियमसार' की भाँति 'रयणसार' में भी ग्रन्थ का निर्देश किया गया है। यथा—

णमिऊण जिणं वीरं अणंतवरणाणदंसणसहावं।
वोच्छामि णियमसारं केवलिसुदकेवलीभणिदं ॥१॥

तथा— णमिऊण वड्ढमाणं परमप्पाणं जिणं तिसुद्धेण।
वोच्छामि रयणसारं सायारणयारधम्मीणं ॥१॥

उक्त गाथाओं में शब्द-साम्य भी दृष्टव्य है। 'समयसार' में भी 'वोच्छामि समयपाहुड' इत्यादि कहा गया है।

(३) इन सभी ग्रन्थों के अन्त में रचना का पुनः नामोल्लेख किया गया है और सागार (गृहस्थ) और अनगार (मुनि) दोनों के लिए आगम का सार बताया गया है। कहा है—

बुज्झदि सासणमेयं सागारणगारचरियया जुत्तो।
जो सो पवयणसारं लहुणा कालेण पप्पोदि ॥ प्र. सा., २७५

एवम्— सम्मत्तणाणं वेरग्गतवोभावं णिरीहवित्तिचारित्तं।
गुणसीलसहावं उप्पज्जइ रयणसारमिणं ॥ रयणसार, १५२

(४) इसके अतिरिक्त रयणसार में दो-तीन स्थलों पर (गाथा १४८, ८४, १०५) 'प्रवचनसार' के अभ्यास का उल्लेख किया गया है, जो शुद्ध आत्मा रूप आगम के सार तत्त्व और प्रवचनसार ग्रन्थ का भी सूचक हो सकता है। पंचास्तिकाय में भी कहा गया है—"एवं पवयणसारं पंचत्थिसंगहं वियाणित्ता।" (१०३)

(५) रयणसार में कहा गया है—

णिच्छयववहारसरूवं जो रयणत्तयं ण जाणइ सो।
जं कीरइ तं मिच्छारूवं सव्वं जिणुद्दिट्ठं ॥ र. सा., १०१

समयसार में भी—

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥ समयसार, १६

आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं: "येनैव हि भावेनात्मा साध्यः साधनं च स्यात्तेनैवायं नित्यमुपास्य इति स्वयमाकूय परेषां व्यवहारेण साधुना दर्शनज्ञानचारित्राणि नित्यमुपास्यानीति प्रतिपाद्यते।" अर्थात् साधु को

दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप रत्नत्रय को भेद (साधन) और अभेद (साध्य) जिस भाव से भी हो नित्य सेवन करना चाहिए। आचार्य जयसेन ने इनका विस्तार से स्पष्टीकरण किया है। वास्तव में रत्नत्रय मोक्ष-मार्ग है, जिसका चारित्र के रूप में लगभग सभी रचनाओं में वर्णन किया गया है। किन्तु 'रयणसार' में यह वर्णन सरल है।

(६) रयणसार की अन्तिम गाथा है—

> इदि सज्जणपुज्जं रयणसारं गंथं णिरालसो णिच्चं।
> जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ सासयं ठाणं ॥१५५॥

मोक्षपाहुड के वचन हैं:—

> जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ सासयं सोक्खं ॥१०६॥

भावपाहुड में भी कहा गया है:—

> जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ अविचलं ठाणं ॥१६४॥

द्वादशानुप्रेक्षा का कथन है:—

> जो भावइ सुद्धमणो सो पावइ परमणिव्वाणं ॥९१॥

समयपाहुड में उल्लेख है:—

> जो समयपाहुडमिणं पडिहूणं · · · सो पावदि उत्तमं सोक्खं ॥४३७॥

उक्त सभी पंक्तियों में एक क्रम तथा शब्द-साम्य परिलक्षित होता है।

(७) सम्यग्दर्शन और सम्यग्दृष्टि की महिमा आचार्य कुन्दकुन्द की सभी रचनाओं में प्रकारान्तर से वर्णित मिलती है। 'रयणसार' की अधिकतर गाथाओं में सम्यग्दर्शन का व्याख्यान है। जैसे कि— (अ) सम्यग्दर्शन रूपी सुदृष्टि के बिना देव, गुरु, धर्म आदि का दर्शन नहीं होता, (आ) सम्यक्त्व सूर्य के समान है, (इ) सम्यक्त्व कल्पतरु के समान है, (ई) सम्यक्त्व औषध है, कहा है—

> पुव्वं सेवइ मिच्छामलसोहणहेउ सम्मभेसज्जं।
> पच्छा सेवइ कम्मामयणासणचरियसम्मभेसज्जं॥ रयणसार, ६२

अर्थात् प्रथम मिथ्यात्वमल की शुद्धि के लिए सम्यक्त्व रूपी औषधि का सेवन करे, पश्चात् कर्म रूपी रोग को मिटाने के लिए चारित्र रूपी औषधि का सेवन करना चाहिए।

आचार्य जयसेन की टीका से युक्त समयसार की गाथा २३३ में लगभग यही भाव व्यक्त किया गया है।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग होते हैं। सम्यग्दृष्टि सातों व्यसन, सात प्रकार के भय, पच्चीस शंकादिक दोषों से रहित तथा संसार, शरीर और भोगों की आसक्ति से हट कर निःशंकादिक आठ गुणों से सहित पाँच परमेष्ठियों में शुद्ध भक्ति-भावना रखता है। 'रयणसार' में कहा है—

> भयविसणमलविवज्जिय संसारसरीरभोगणिव्विण्णो।
> अट्ठगुणंगसमग्गो दंसणसुद्धो हु पंचगुरुभत्तो ॥५॥

'समयसार' के वचन हैं—

> सम्मदिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
> सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका ॥२२८॥

अर्थात् सम्यग्दृष्टि निःशंक एवं निर्भय होते हैं, क्योंकि वे सातों भयों से रहित होते हैं।

सम्यक्त्व के बिना दान, पूजा, जप, तप आदि सब निरर्थक कहा गया है। यह भाव 'रयणसार' की गाथा ९ और १४२ तथा जयसेनाचार्य की टीका से युक्त समयसार की गाथा सं. २९२ में लगभग समान रूप से वर्णित है।

(८) 'मोक्खपाहुड' और 'रयणसार' की निम्नलिखित गाथाओं में साम्य लक्षित होता है—

देहादिसु अणुरत्ता विसयासत्ता कसायसंजुत्ता ।
अप्पसहावे सुत्ता ते साहू सम्मपरिचत्ता।। –रयणसार, ९३

तथा– जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि ।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे ।। –मोक्खपाहुड, ३१
अण्णाणी विसयविरत्तादो होइ सयसहस्सगुणो ।
णाणी कसायविरदो विसयासत्तो जिणुद्दिट्ठं ।। –रयणसार, ६३

एवं– उग्गतवेण णाणी जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहि ।
तं णाणी तिहिंगुत्तिहि खवेइ अंतोमुहुत्तेण ।। –मोक्खपाहुड, ५३
सम्मत्त विणा रुई भत्तिविणा दाणं दयाविणा धम्मो ।
गुरुभत्तिविणा तवचरियं णिप्फलं जाण ।। –रयणसार, ७३

इसी प्रकार—

तच्चरुई सम्मत्त तच्चगहणं च हवई सण्णाणं ।
चारित्तं परिहारो परूवियं जिणवरिंदेहिं ।। –मोक्खपाहुड, ३८
सम्माइविहाणसहावगुणं जो भाविऊण भावेण ।
णियसुद्धप्पा रुच्चइ तस्स य णियमेण होइ णिव्वाणं ।।
–रयणसार, ११३

तथा– अप्पा अप्पमि रओ रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो ।
संसारतरणहेउ धम्मोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठो ।। –भावपाहुड, ८५

(९) यही भाव "पद्मनन्दिपंचविंशतिका" में भी प्राप्त होता है।
यथा—

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता ।
निश्चितं स भवेद् भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम् ।। २३।।

(१०) रयणसार में 'पत्तविसेस' का (उत्तम पात्र का) बहुत वर्णन किया गया है। अन्य पात्रों में अविरत, देशविरत, महाव्रत, तत्त्वविचारक और आगमरुचिक आदि कई प्रकार के पात्रों का निर्देश किया गया है। कहा है—

अविरददेसमहव्वय आगमरुइणं वियारतच्चण्हं ।
पत्तंतरं सहस्सं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ।। —रयणसार, १०६

आचार्य कुन्दकुन्द ने 'द्वादशानुप्रेक्षा' में भी पात्रों के इन भेदों का उल्लेख किया है। उनके ही शब्दों में—

उत्तमपत्तं भणियं सम्मत्तगुणेण संजुदो साहू ।
सम्मादिट्ठी-सावय मज्झिमपत्तो हु विण्णेयो ।।
णिद्दिट्ठो जिणसमये अविरदसम्मो जहण्णपत्तोत्ति ।
सम्मत्तरयणरहिओ अपत्तमिदि संपरिक्खेज्जो ।।
—द्वादशानुप्रेक्षा, १७,१८

तथा– "उत्तमपत्तु मुणिंदु जगि मज्झिमु सावउ सिद्ध ।
अविरयसम्माइट्ठि जणु पभणिउ पत्तु कणिट्ठु ।"
—सावयधम्मदोहा, ७९

णियतच्चुवलद्धिविणा सम्मत्तुवलद्धि णत्थि णियमेण ।
सम्मत्तुवलद्धिविणा णिव्वाणं णत्थि जिणुद्दिट्ठं ॥
—रयणसार, ७९

अर्थात् आत्मज्ञान की प्राप्ति के विना नियम से सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता । सम्यक्त्व को पाए विना मोक्ष नहीं होता, ऐसा जिनदेव ने कहा है ।

प्रथम गाथा में मोह को दूर किए विना आत्मतत्त्व की उपलब्धि नहीं होती, कहा गया है और दूसरी में आत्मज्ञान के विना सम्यक्तत्त्व (आत्मतत्त्व) उपलब्ध नहीं होता, यह कथन परस्पर सापेक्ष होने के कारण एक दूसरे के पूरक हैं । इसी प्रकार नियमसार का कथन है—

दव्वगुणपज्जयाणं चित्तं जो कुणइ सोवि अण्णवसो ।
मोहांधयारववगयसमणा कहयंति एरिसयं ॥ —नियमसार, १४५

अर्थात् जो मोह-अन्धकार से रहित निर्मल आत्मा हैं, ऐसे श्रमणों का कथन है कि जो अपने चित्त से द्रव्य, गुण और उनकी पर्यायों में लीन हैं, वे अपने शुद्ध स्वभाव में नहीं हैं तथा परवश हैं ।

इसके आगे के वचन हैं—

दव्वगुणपज्जएहिं जाणइ परसमयससमयादिविभेयं ।
अप्पाणं जाणइ सो सिवगइ पहणायगो होइ ॥ —रयणसार, १२७

अर्थात् जो जीवात्मा की अशुद्ध अवस्था के साथ ही अपने शुद्ध स्वभाव को भी द्रव्य, गुण, पर्याय के रूप में जानता है, वह शिव-पथ का नायक होता है यानी मोक्ष प्राप्त करता है । इसी को स्पष्ट एवं विशद करते हुए कहा गया है कि जो चारित्र, दर्शन और ज्ञान में अवस्थित है, वह 'स्वसमय' है । परमात्मा 'स्वसमय' है । अशुभ भाव वाले जीव वहिरात्मा और शुभ भावी जीव अन्तरात्मा हैं । ये दोनों ही 'परसमय' हैं । यही भाव 'समयसार' में इस प्रकार वर्णित है—

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण ।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं ॥ —समयसार, २

अर्थात् जीव दो प्रकार के हैं—मुक्त और संसारी । जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र में तन्मय होकर रहते हैं, वे मुक्त जीव हैं और जो पुद्गल प्रदेशों में अवस्थित होकर रहता है, उसे संसारी जीव कहते हैं ।

'रयणसार' में यह भी कहा गया है कि प्रथम तीन गुणस्थानों में रहने वाले जीव वहिरात्मा हैं । चौथे गुणस्थान के सम्यग्दृष्टि जीव जघन्य अन्तरात्मा हैं । पाँचवें गुण स्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक भावों की विशुद्धि की तारतम्यता के अनुसार जीव मध्यम अन्तरात्मा हैं । वारहवें गुणस्थानवर्ती जीव अन्तरात्मा हैं और तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान वाले जीव परमात्मा हैं । 'मोक्षपाहुड' में तत्त्वरुचि को 'सम्यक्त्व' कहा गया है और 'रयणसार' में 'सम्यक्त्व' के विना रुचि नहीं' पूरक कथन है ।

इस विषय-विवेचन से अत्यन्त स्पष्ट है कि आचार्य कुन्दकुन्द के सिवाय अन्य कोई ऐसी सटीक रचना नहीं लिख सकता था । रचना सरल होने पर भी गूढ़ अर्थ से गुम्फित है । रचना-साम्य की दृष्टि से भी कुछ स्थल द्रष्टव्य हैं:—

(१) कालमणंतं जीवो मिच्छत्तसरूवेण पंचसंसारे । —रयणसार, १४०
कालमणंतं जीवो जम्मजरा० । —भावपाहुड, ३४

(२) पावारंभणिवित्ती पुण्णारंभे पउत्तिकरणं पि । –रयणसार, ८४
असुहादो णिव्विती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं ।द्वादशानुप्रेक्षा, ४२

(३) जाव ण जाणइ अप्पा अप्पाणं दुक्खमप्पणो ताव । –रयणसार, ७८
जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोह्णं पि । –समयसार, ६९

(४) दया विणा धम्मो—रयणसार, ७३
धम्मो दयाविसुद्धो—बोधपाहुड, २४

(५) अज्जवसप्पिणिभरहे धम्मज्झाणं पमादरहियमिदि ।

–रयणसार, ५१

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स । –मोक्षपाहुड, ७६

भाव-साम्य की दृष्टि से कुछ अन्य स्थल हैं—

जो सो होइ कुदिट्ठी ण होइ जिणमग्गलग्गरवो ।–रयणसार, ३

तथा— सम्माइट्ठी सावयधम्मं जिणदेवदेसियं कुणदि ।
विवरीयं कुव्वंतो मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो ।। –मोक्षपाहुड, ९४

इसी प्रकार–णाणेण झाणसिज्झी झाणादो सव्वकम्मणिज्जरणं ।
णिज्जरफलं मोक्खं णाणब्भासं तदो कुज्जा ।।

–रयणसार, १३८

और— दंसणणाणसमग्गं झाणं णो अण्णदव्वसंजुत्तं ।
जायदि णिज्जरहेदू सभावसहिदस्स साधुस्स ।।

–पंचास्तिकाय, १५२

एवं— णाणब्भासविहीणो सपरं तच्चं ण जाणए किंपि ।
झाणं तस्स ण होइ हु ताव ण कम्मं खवेइ णहु मोक्खं ।।

–रयणसार, ८२

तथा— णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं ।
जाणदि जदि णिच्छयदो जो सो मोहक्खयं कुणदि ।।

–प्रवचनसार, ८९

इसी प्रकार—

विकहाइविप्पमुक्को आहाकम्माइविरहियो णाणी ।

–रयणसार, ८७

और— आधाकम्मादीया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा ।
कह ते कुव्वदि णाणी परदव्वगुणा हु जे णिच्चं ।।

–समयसार, २८६

इसी प्रकार—

संजम-तव-झाणज्झयणविण्णाणं गिण्हपडिग्गहणं ।
वंचइ गिण्हइ भिक्खु णु सक्कदे वज्जिदुं दुक्खं ।।

–रयणसार, १०३

तथा— ण हि णिरवेक्खो चागो ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी ।
अविसुद्धस्स य चित्ते कहं णु कम्मक्खओ विहिओ ।।

–प्रवचनसार, २२०

एवं— देहादिसु अणुरत्ता विसयासत्ता कसायसंजुत्ता ।
अप्पसहावे सुत्ता ते साहू सम्मपरिचत्ता ।। –रयणसार, ९३

और— इहलोगणिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्मि ।
जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो ॥
—प्रवचनसार, २२६

इसी प्रकार—वयगुणसीलपरीसहजयं च चरियं तवं छडावसयं ।
झाणज्झयणं सव्वं सम्मविणा जाण भवबीयं ॥
—रयणसार, १११

तथा— किं काहदि वणवासो कायकलेसो विचित्तउववासो ।
अज्झयणमोणपहुदी समदारहियस्स समणस्स ॥
—नियमसार, १२४

एवं— उवसमणिरीहझाणज्झयणाइ महागुणा जहा दिट्ठा ।
जेसिं ते मुणिणाहा उत्तमपत्ता तहा भणिया ॥
—रयणसार, १०७

और— झाणणिलीणो साहू परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं ।
तम्हा दु झाणमेव हि सव्वदिचारस्स पडिकमणं ॥
—नियमसार ९३

"मोक्षपाहुड" में कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि श्रावकधर्म का पालन करता है। यदि वह उससे विपरीत करता है, तो मिथ्यादृष्टि है। कहा है—

सम्माइट्ठी सावयधम्मं जिणदेवदेसियं कुणदि ।
विवरीयं कुव्वंतो मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ —मोक्षपाहुड, ९४

"रयणसार" में श्रावकधर्म में दान, पूजा को मुख्य बताया गया है और मुनि-धर्म में ध्यान और अध्ययन को। आचार्य कुन्दकुन्द के ही शब्दों में—

दाणं पूया मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा ।
झाणाज्झयणं मुक्खं जइधम्मे तं विणा तहा सो वि ॥ रयणसार, १०

उसमें यह भी कहा गया है कि दान, पूजा, ब्रह्मचर्य, उपवास तथा अनेक प्रकार के व्रत सम्यग्दर्शन के साथ पालन करने पर मोक्ष को देने वाले हैं और सम्यग्दर्शन के बिना दीर्घ संसार के कारण हैं (रयणसार, गाथा १०)। ये पुण्य के कारण अवश्य हैं। "भावपाहुड" में भी कहा गया है कि व्रत सहित पूजा, दान आदिक जिनशासन में पुण्य के कारण कहे गए हैं। निश्चय धर्म तो आत्मा में है और वह मोह, राग-द्वेष से रहित समता परिणामों में प्रकट होता है। आचार्य के शब्दों में—

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥
—भावपाहुड, ८३

धर्म को ही चारित्र कहा गया है। आचार्य कुन्दकुन्द की यह चिन्तना उनकी सभी रचनाओं में समान रूप से व्याप्त मिलती है। यथा—

चारित्तं खलु धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥ —प्र. सा., ७

जैन विद्वानों के अनुसार जिन बातों के कारण 'रयणसार' ग्रन्थ पूर्ण रूप से आचार्य कुन्दकुन्द की रचना या प्रकृति से मेल नहीं खाता, उनमें एक गण-गच्छादि का उल्लेख भी है। किन्तु जैन साहित्य का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि आचार्य मूलसंघ के नायक थे और देशीगण से उनके अन्वय का घनिष्ठ सम्बन्ध था। मर्करा के ताम्रपत्र में देशीगण के साथ

कुन्दकुन्दान्वय का भी उल्लेख है, जो आचार्य कुन्दकुन्द के अन्वय का ही उल्लेख है (द्रष्टव्य है : जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृ. ६०४)। निश्चित रूप से आचार्य कुन्दकुन्द के समय में संघ, गण, गच्छ और कुल आदि प्रचलित थे। आ. उमास्वामी ने उल्लेख किया है—

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम् ।

—तत्त्वार्थसूत्र अ. ९, सू. २४

इसी प्रकार से शिलालेखों में तथा ग्रन्थ-प्रशस्तियों में उल्लेख मिलते हैं। कहा भी है—

गिरिमूलसंघ-देसियगण-पुत्थयगच्छ-कोंडकुंदाणं ।
परमण्ण-इंगलेसर-बलिम्मि-जादस्स-मुणिपहाणस्स ॥

—भावतिभंगी, ११८, परमागमसार, २२६

आचार्य शिवार्य का कथन है—

जो आयरियउवज्झायसिस्ससाहम्मिये कुलगणे य ।

—भगवती आराधना, ५,३१०

आचार्य कुन्दकुन्द के समय में श्रमणों का एक अलग ही गण बन चुका था। उनके ही वचन हैं :

समणं गणि गुणड्ढं कुलरूववओविसिट्ठमिट्ठदरं ।
समणेहि तं पि पणदो पडिच्छ मं चेदि अणुगहिदो ॥

—प्र. सा., २०३

तथा— "रत्नत्रयोपेतः श्रमणगणः संघः" —सर्वार्थसिद्धि ९, १३

यथार्थ में आचार्य कुन्दकुन्द के समय में ही गण-गच्छ उत्पन्न हो रहे थे। इसलिये उनका कथन है कि मुनियों को गण-गच्छ आदि के विकल्पों में नहीं पड़ना चाहिये (गा. १४४)। क्योंकि मुनियों का गण-गच्छ तो रत्नत्रय है। उन्हें अपनी निर्मल आत्मा में लीन रहना चाहिये। वही उनके लिये गण-गच्छ, संघ और समय है। उनके ही शब्दों में—

रयणत्तमेव गणं गच्छं गमणस्स मोक्खमग्गस्स ।
संघो गुणसंघाओ समयो खलु णिम्मलो अप्पा ॥ रयणसार, १५३

आचार्य कुन्दकुन्द के समय में शिथिलाचार बढ़ रहा था। यहाँ तक कि तीन सौ तिरेसठ मतों का प्रचलन था। अतः विधि-निषेध करना आवश्यक होगया था। "भावपाहुड" में कहा गया है—

पासंडी तिण्णिसया तिसट्ठिभेया उमग्ग मुत्तूण ।
रुंभहि मण् जिणमग्गे असप्पलावेण किं बहुणा ॥ —भाव. पा. १४२

"लिंगपाहुड" में मुनिचर्या के सम्बन्ध में अनेक ज्ञातव्य तथ्यों का उल्लेख किया गया है, जो उस युग की धार्मिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालने वाले हैं। "रयणसार" और "भावपाहुड" दोनों रचनाओं में "भाव" का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। भाव एक पारिभाषिक शब्द है, जो निश्चय सम्यक्त्व का व शुद्ध आत्मा का अनुभूति रूप श्रद्धान एवं सम-भाव है। कहा है—

भावसहिदो य मुणिणो पावइ आराहणाचउक्कं च ।
भावरहिदो य मुणिवर भमइ चिरं दीहसंसारे ॥ —भाव. पा. ९९

मुनि के लिए भावसंयम नितान्त अनिवार्य बताया गया है। भावश्रमण

मुनि निश्चय ही मुक्ति प्राप्त करते है। जो भावसंयमी होते हैं, वे कषायों के अधीन नहीं रहते। श्रमण समभावी होते हैं,–'सम मण्णइ तेण सो समणो'। कहा भी है–

उवसमतवभावजुदो णाणी सो भावसंजुदो होई।
णाणी कसायवसगो असंजदो होइ सो ताव॥ –रयणसार, ६०

इसी प्रकार "सम्मं" शब्द का प्रयोग भी "रयणसार" और "अष्टपाहुड" में समान रूप से अपने ठीक अर्थ में मिलता है। यथा—

दंसणणाणावरणं मोहणियं अंतराइयं कम्मं।
णिट्ठवइ भवियजीवो सम्मं जिणभावणाजुत्तो॥
–भावपाहुड, १४९

तथा– सुदणाणब्भासं जो ण कुणइ सम्मं ण होइ तवयरणं।
कुव्वंतो मूढमई संसारसुहाणुरत्तो सो॥ –रयणसार, ८५

इसी प्रकार सम्मत्तगुण, सम्माइट्ठी, सावय आदि का वर्णन अष्टपाहुड की भांति किया गया है। कहीं-कहीं समान भाव हैं और कहीं-कहीं पूरक वचन हैं। अतएव ग्रन्थ की अन्तरंग परीक्षा से निश्चित होता है कि यह आचार्य कुन्दकुन्द की ही रचना है। "मोक्षपाहुड" में भी रत्नत्रय का वर्णन किया गया है—

जो रयणत्तयजुत्तो कुणइ तवं संजदो ससत्तीए।
सो पावइ परमपयं झायंतो अप्पयं सुद्धं॥ –मोक्षपा., ४३

अष्टपाहुड में भी व्यवहार और परमार्थ (निश्चय) दोनों दृष्टियों से वर्णन किया गया है। अतएव कहा है—

तच्चरुई सम्मत्तं तच्चग्गहणं च हवइ सण्णाणं।
चारित्तं परिहारो य जंपियं जिणवरिंदेहिं॥ –मोक्षपा., ३८

मोक्षपाहुड और रयणसार दोनों ही रचनाओं में सम्यग्दर्शन को प्रधान तथा वीतराग मुनि धर्म को श्रेष्ठ कहा गया है। सम्यग्दर्शन के उपदेश का सार यही है कि यह श्रावक और मुनियों दोनों के लिये समान रूप से हितकारी है। ज्ञानी स्वसंवेद्य परिणति में लीन होकर बहिर्मुखी प्रवृत्तियों से हट जाता है और वीतराग मुनिधर्म (वीतराग चारित्र) को मानने लगता है। आ. कुन्दकुन्द के ही शब्दों में—

णियसुद्धप्पणुरत्तो बहिरप्पावत्थवज्जिओ णाणी।
जिणमुणिधम्मं मण्णइ गयदुक्खो होइ सद्दिट्ठी॥ रयणसार, ६

सम्यग्दर्शन की व्याख्या इन रचनाओं में कई प्रकार से की गई है। उदाहरण के लिये सार रूप वचन इस प्रकार हैं:—

(१) तत्त्व में रुचि होना अथवा सात तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

(२) सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है।

(३) जीवादि सात तत्त्वों का श्रद्धान करना व्यवहार सम्यक्त्व है और अपनी आत्मा का श्रद्धान करना निश्चय सम्यक्त्व है।

(४) आत्मा का दर्शन करना सम्यग्दर्शन है।

(५) जिनदेव का श्रद्धान करना और सम्यक्त्व के आठों अंगों का पालन करना सम्यग्दर्शन है।

(६) सर्वज्ञ की वाणी पर श्रद्धा रखना और उनके वचनों को ज्यों का त्यों कहना सम्यग्दर्शन है।

यथार्थ में सम्यक्त्व श्रद्धान का विषय है। बिना जीवादि सात तत्त्वों की प्रतीति के सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता है। यही भाव अनेक प्रकार से प्रसंगतः वर्णित किया गया है। इस प्रकार यदि "अष्टपाहुड" आचार्य कुन्दकुन्द की रचना है, तो "रयणसार" भी उनकी ही रचना है। भाषा और विषय की दृष्टि से इन रचनाओं में बहुत कुछ साम्य लक्षित होता है। अतएव रचना की अन्तरंग परीक्षा से भी स्पष्ट है कि यह एक प्रामाणिक रचना है।

आगम-परम्परा के संवाहक : आचार्य कुन्दकुन्द

जहाँ तक जिन-सिद्धान्त और अनेकान्त-दर्शन का सम्बन्ध है, आचार्य कुन्दकुन्द ने अपनी ओर से कुछ भी नहीं कहा। उन्होंने वही कहा जो आगम-परम्परा से प्रचलित था। श्रुत-केवली के वचनों के अनुसार ही आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार, नियमसार और रयणसार आदि की रचना की। उनके ही वचन प्रमाण हैं—

> वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं। —समयसार, १
> वोच्छामि णियमसारं केवलिसुदकेवलीभणिदं। —नियमसार, १
> पुव्वं जिणेहि भणियं जहट्ठियं गणहरेहि वित्थरियं
> पुव्वाइरियक्कमेण जो बोल्लइ सो हु सद्दिट्ठी ॥ —रयणसार, २

निर्मल आत्मा के शुद्ध स्वरूप के साधन का स्वसंवेदनज्ञान के रूप में वर्णन करते हुए आचार्य ने स्पष्ट कहा कि शुद्धात्मा का वर्णन मैं बतला सकूँ तो उसे स्वीकार कर लेना और यदि उसमें कहीं चूक जाऊँ, तो छल ग्रहण नहीं करना। उनके ही शब्दों में—

> तं एयत्तविभत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।
> जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं घेत्तव्वं ॥ —समयसार, ५

जिन्होंने शुद्ध चैतन्य स्वभाव में वर्तन किया है और जो प्रमत्त तथा अप्रमत्त दोनों अवस्थाओं से ऊपर उठकर परमहंस दशा को भी पार कर चुके हैं, ऐसे परमात्मा ने जो कहा है, वही कहा जाता है। शुद्ध आत्मा की अनुभूति का वर्णन वास्तव में शब्दों में नहीं किया जा सकता। परमानन्द या परमात्मा के आनन्द की दशा ऐसी है कि जो जानता है, वह कह नहीं सकता और जो कहता है, वह वास्तव में जानता नहीं है। फिर, आचार्य, कुन्दकुन्द उसका वर्णन कैसे करते? परमार्थ रूप से अखण्ड आत्मा का वर्णन हो नहीं सकता, इसलिये व्यवहार का सहारा लेकर उसका वर्णन किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि जिस प्रकार किसी अनाड़ी मनुष्य को उसकी भाषा में बिना बोले उसे समझाया नहीं जा सकता, उसी प्रकार परमार्थ का उपदेश भी बिना व्यवहार के नहीं हो सकता। "समयसार" की भूमिका में ये ही विचार निबद्ध हैं। निर्मल आत्मा समयसार की प्राप्ति के लिये सभी आगम ग्रन्थों में एक ही उपाय बताया है और वह है—निर्ग्रन्थ होकर शुद्धोपयोग में लीन रहना। आचार्य कुन्दकुन्द के शब्द हैं—

> णिग्गंथमोहमुक्का बावीसपरीसहा जियकसाया।
> पावारंभविमुक्का ते गहिया मोक्खमग्गम्मि ॥
>
> —मोक्षपाहुड, ८०

यही भाव इन शब्दों में भी व्यक्त किया गया है—

बहिरब्भंतरगंथविमुक्को सुद्धोवजोयसंजुत्तो ।
मूलुत्तरगुणपुण्णो सिवगइपहणायगो होइ ॥ —रयणसार, १३२

दार्शनिक चिन्तन

आचार्य कुन्दकुन्द के दार्शनिक चिन्तन में स्पष्ट रूप से अनेकान्त का पुट परिलक्षित होता है। अनेकान्त जैनागम की मूल दृष्टि है, जो जिनमत में प्रवेश करना चाहता है, उसे व्यवहार और निश्चय नय (दृष्टि) को नहीं छोड़ना चाहिये, क्योंकि व्यवहार के बिना तीर्थ (लौकिक रीति) का क्षय हो जाएगा और परमार्थ (निश्चय) के बिना तत्त्व (वस्तु-स्वरूप) नष्ट हो जाएगा। कहा है—

जइ जिणमयं पवज्जह तो मा ववहारणिच्छए मुयह ।
एगेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्चं ॥
—जयधवल: अनगार धर्मामृत टीका

व्यवहार और निश्चय में परस्पर कोई विरोध नहीं है। जिस प्रकार स्वर्णपाषाण (जिस पत्थर में से सोना निकलता हो) व्यवहार से स्वर्ण का साधन है उसी प्रकार से व्यवहार नय निश्चय या परमार्थ को समझने का साधन है, । जहाँ आचार्य कुन्दकुन्द व्यवहार और निश्चयनय को एक-दूसरे का पूरक तथा आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त करने के लिये आवश्यक मानते हैं, वहीं नय के विकल्पों को शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं मानते। उनका कथन है कि शुद्ध आत्मा व्यवहार और निश्चय इन दोनों पक्षों से दूर है। जीवात्मा में कर्म चिपके हुए हैं, यह व्यावहारिक पक्ष है और आत्मा कर्मों से बंधी हुई नहीं है, यह परमार्थ पक्ष है। परन्तु निर्मल आत्मा इन दोनों पक्षों से परे है। इसी को स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने कहा है कि जो व्यवहार और निश्चय को भलीभाँति जान कर मध्यस्थ होता है, वही परमतत्त्व को प्राप्त करता है। वस्तुतः यह आचार्य कुन्दकुन्द की अनेकान्त-दृष्टि है। इस दार्शनिक चिन्तना के अनुसार किसी एक द्रव्य का सात प्रकार (सप्तभंग) से कथन किया जाता है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही आगम-परम्परा में "सिया अत्थि, सिया णत्थि" आदि शब्दों के द्वारा द्रव्य के वास्तविक स्वरूप का निर्वचन किया जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में—

सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं ।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥ —पंचास्तिकाय, १४

जिस प्रकार उपनिषदों में परमतत्त्व को 'नेति नेति' कह कर मन, बुद्धि, इन्द्रिय और वाणी के अगोचर बताया गया है, उसी प्रकार से स्याद्वाद की भाषा में प्रत्येक द्रव्य अपने मूल रूप में "अवक्तव्य" है। वाणी के द्वारा हम उसे ठीक-ठीक प्रकट नहीं कर सकते।

तात्त्विक विवेचन में मौलिकता

"आचार्य कुन्दकुन्द के प्राकृत-वाङमय की भारतीय संस्कृति को देन" शीर्षक निबन्ध में डॉ. दरबारीलाल कोठिया ने लिखा है कि आ. कुन्दकुन्द के प्राकृत-वाङमय का बहुभाग तात्त्विक निरूपणपरक ही है, जो मौलिक है। समयसार और नियमसार में जो शुद्धात्मा का विशद विवेचन उपलब्ध है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। मोक्षपाहुड (गा. ४-७) में आत्मा के बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीन

भेदों तथा उनके स्वरूप का प्रतिपादन भी अद्वितीय है। नियमसार (गा. १५९) में व्यवहार नय से आत्मा को सर्वज्ञ और निश्चयनय से आत्मज्ञ निरूपित करना कुन्दकुन्द का अपना एक नया विचार है। इसी ग्रन्थ (गा. १६०) में ज्ञान और दर्शन के यौगपद्य का सर्वप्रथम समर्थन मिलता है। पुद्गल के दो तथा छह भेदों का निरूपण (गा. २०-२४), परमाणु का स्वरूप-कथन (नियमसार, २६), कर्मभूमिज और भोग-भूमिज से मनुष्यों के दो भेद (नियम. १६) इसी में उपलब्ध हैं। अध्यात्म-विवेचन में आ. कुन्दकुन्द ने जो निश्चय और व्यवहार नयों का अवलम्बन लिया है, वह भी उनके प्राकृत-वाङ्मय की अपूर्व विचारणा है। इन नयों की प्ररूपणा हमें उससे पहले के साहित्य में नहीं मिलती। कुन्दकुन्द की यह दृष्टि उत्तरकालीन ग्रन्थकारों के द्वारा आदृत एवं पुष्ट हुई है और इसी कारण उन्हें सर्वाधिक सम्मान मिला और मूलसंघ के नायक घोषित किये गये। मेरा अपना विचार है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने जिन-शासन के मार्ग-दर्शक के रूप में व्यवहार और परमार्थ के अतिरिक्त गृहस्थ और संन्यास-जीवन का जो स्पष्ट तथा विशद विवेचन किया और यह बताया कि श्रावकधर्म के बिना मुनिधर्म का पालन नहीं हो सकता, इस व्याख्या के कारण उन्हें मूलसंघ का नायक बनाया गया। क्योंकि उनके समय में लोग यह समझने लगे थे कि जैनधर्म नितान्त निवृत्तिमार्गी है। श्री दलसुख मालवणिया ने "आचारांग का श्रमण-मार्ग" परिभाषित करते हुए लिखा है—"ब्राह्मण से श्रमण का मुख्य व्यावर्तक लक्षण है—गृहस्थी का त्याग कर त्यागी बन जाना। श्रमणों के मार्ग में गृहस्थ-धर्म का त्याग करना अत्यन्त आवश्यक समझा गया है। संभवतः श्रमणमार्ग में उसके प्राचीन रूप में गृहस्थ वर्ग का कोई स्थान ही नहीं था।" परन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के प्रतिपादन से यह मेल नहीं खाता है। इसलिये उन्होंने श्रावक और मुनिधर्म दोनों का एक साथ व्यवहार और परमार्थ दोनों रूपों में वर्णन किया है। यद्यपि सम्पूर्ण जैन वाङ्मय में मोक्षमार्ग के लिए मुनि बनने की आवश्यकता का कथन किया गया है और बताया है कि मोक्ष की प्राप्ति मुनिधर्म के सम्यक् पालन से ही सम्भव है, परन्तु श्रावकधर्म की उपेक्षा नहीं की गई है; बल्कि यह कहा गया है—

> वदसमिदिगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहि पण्णत्तं।
> कुव्वंतोवि अभव्वो अण्णाणी मिच्छादिट्ठी दु ॥ –समयसार, २९२

जिन-वाणी कहती है कि घर-द्वार छोड़ देने मात्र से कोई ज्ञानी नहीं बन जाता? व्रत, समिति, मन-वाणी और शरीर का संयम, ब्रह्मचर्य और तप का आचरण करता हुआ भी अभव्य जीव अज्ञानी तथा मूढ़ बना रहता है। इसी प्रकार सम्यक्त्व की विशुद्धि के बिना समस्त तत्त्वों को जान लेने से भी क्या? अनेक तप आदि क्रियाएँ भी शुद्ध सम्यग्दर्शन के बिना संसार की जनक है। कहा है—

> किं जाणिऊण सयलं तच्चं किच्चा तवं च किं बहुलं।
> सम्मविसोहिविहीणं णाणतवं जाण भववीयं ॥ –रयणसार, ११०

इसी प्रकार से वनवास करना, काया को कष्ट देकर उपवास करना, अध्ययन, मौन, आदि समतारहित श्रमण के कार्य निष्फल हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में—

यही भाव इन शब्दों में भी व्यक्त किया गया है—

बहिरब्भंतरगंथविमुक्को सुद्धोवजोयसंजुत्तो ।

मूलुत्तरगुणपुण्णो सिवगइपहणायगो होइ ॥ —रयणसार, १३२

दार्शनिक चिन्तन

आचार्य कुन्दकुन्द के दार्शनिक चिन्तन में स्पष्ट रूप से अनेकान्त का पुट परिलक्षित होता है। अनेकान्त जैनागम की मूल दृष्टि है, जो जिनमत में प्रवेश करना चाहता है, उसे व्यवहार और निश्चय नय (दृष्टि) को नहीं छोड़ना चाहिये, क्योंकि व्यवहार के बिना तीर्थ (लौकिक रीति) का क्षय हो जाएगा और परमार्थ (निश्चय) के बिना तत्त्व (वस्तु-स्वरूप) नष्ट हो जाएगा। कहा है—

जइ जिणमयं पवज्जह तो मा ववहारणिच्छए मुयह ।

एगेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्चं ॥

—जयधवल: अनगार धर्मामृत टीका

व्यवहार और निश्चय में परस्पर कोई विरोध नहीं है। जिस प्रकार स्वर्णपाषाण (जिस पत्थर में से सोना निकलता हो) व्यवहार से स्वर्ण का साधन है उसी प्रकार से व्यवहार नय निश्चय या परमार्थ को समझने का साधन है, । जहाँ आचार्य कुन्दकुन्द व्यवहार और निश्चयनय को एक-दूसरे का पूरक तथा आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त करने के लिये आवश्यक मानते हैं, वहीं नय के विकल्पों को शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं मानते। उनका कथन है कि शुद्ध आत्मा व्यवहार और निश्चय इन दोनों पक्षों से दूर है। जीवात्मा में कर्म चिपके हुए हैं, यह व्यावहारिक पक्ष है और आत्मा कर्मों से बंधी हुई नहीं है, यह परमार्थ पक्ष है। परन्तु निर्मल आत्मा इन दोनों पक्षों से परे है। इसी को स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने कहा है कि जो व्यवहार और निश्चय को भलीभाँति जान कर मध्यस्थ होता है, वही परमतत्त्व को प्राप्त करता है। वस्तुतः यह आचार्य कुन्दकुन्द की अनेकान्त-दृष्टि है। इस दार्शनिक चिन्तना के अनुसार किसी एक द्रव्य का सात प्रकार (सप्तभंग) से कथन किया जाता है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही आगम-परम्परा में "सिया अत्थि, सिया णत्थि" आदि शब्दों के द्वारा द्रव्य के वास्तविक स्वरूप का निर्वचन किया जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में—

सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं ।

दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥ —पंचास्तिकाय, १४

जिस प्रकार उपनिषदों में परमतत्त्व को 'नेति नेति' कह कर मन, बुद्धि, इन्द्रिय और वाणी के अगोचर बताया गया है, उसी प्रकार से स्याद्वाद की भाषा में प्रत्येक द्रव्य अपने मूल रूप में "अवक्तव्य" है। वाणी के द्वारा हम उसे ठीक-ठीक प्रकट नहीं कर सकते।

तात्त्विक विवेचन में मौलिकता

"आचार्य कुन्दकुन्द के प्राकृत-वाङमय की भारतीय संस्कृति को देन" शीर्षक निबन्ध में डॉ. दरबारीलाल कोठिया ने लिखा है कि आ. कुन्दकुन्द के प्राकृत-वाङमय का बहुभाग तात्त्विक निरूपणपरक ही है, जो मौलिक है। समयसार और नियमसार में जो शुद्धात्मा का विशद विवेचन उपलब्ध है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। मोक्षपाहुड (गा. ४-७) में आत्मा के बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीन

भेदों तथा उनके स्वरूप का प्रतिपादन भी अद्वितीय है। नियमसार (गा. १५९) में व्यवहार नय से आत्मा को सर्वज्ञ और निश्चयनय से आत्मज्ञ निरूपित करना कुन्दकुन्द का अपना एक नया विचार है। इसी ग्रन्थ (गा. १६०) में ज्ञान और दर्शन के यौगपद्य का सर्वप्रथम समर्थन मिलता है। पुद्गल के दो तथा छह भेदों का निरूपण (गा. २०-२४), परमाणु का स्वरूप-कथन (नियमसार, २६), कर्मभूमिज और भोगभूमिज के मनुष्यों के दो भेद (नियम १६) इसी में उपलब्ध हैं। अध्यात्म-विवेचन में आ. कुन्दकुन्द ने जो निश्चय और व्यवहार नयों का अवलम्बन लिया है, वह भी उनके प्राकृत-वाङ्मय की अपूर्व विचारणा है। इन नयों की प्ररूपणा हमें उससे पहले के साहित्य में नहीं मिलती। कुन्दकुन्द की यह दृष्टि उत्तरकालीन ग्रन्थकारों के द्वारा आदृत एवं पुष्ट हुई है और इसी कारण उन्हें सर्वाधिक सम्मान मिला और मूलसंघ के नायक घोषित किये गये। मेरा अपना विचार है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने जिन-शासन के मार्ग-दर्शक के रूप में व्यवहार और परमार्थ के अतिरिक्त गृहस्थ और संन्यास-जीवन का जो स्पष्ट तथा विशद विवेचन किया और यह बताया कि श्रावकधर्म के बिना मुनिधर्म का पालन नहीं हो सकता, इस व्याख्या के कारण उन्हें मूलसंघ का नायक बनाया गया। क्योंकि उनके समय में लोग यह समझने लगे थे कि जैनधर्म नितान्त निवृत्तिमार्गी है। श्री दलसुख मालवणिया ने "आचारांग का श्रमण-मार्ग" परिभाषित करते हुए लिखा है—"ब्राह्मण से श्रमण का मुख्य व्यावर्तक लक्षण है—गृहस्थी का त्याग कर त्यागी बन जाना। श्रमणों के मार्ग में गृहस्थ-धर्म का त्याग करना अत्यन्त आवश्यक समझा गया है। संभवतः श्रमणमार्ग में उसके गौण रूप में गृहस्थ वर्ग का कोई स्थान ही नहीं था।" परन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के प्रतिपादन से यह मेल नहीं खाता है। इसलिये उन्होंने श्रावक और मुनिधर्म दोनों का एक साथ व्यवहार और परमार्थ दोनों रूपों में वर्णन किया है। यद्यपि सम्पूर्ण जैन वाङ्मय में मोक्षमार्ग के लिए मुनि बनने की आवश्यकता का कथन किया गया है और बताया है कि मोक्ष की प्राप्ति मुनिधर्म के सम्यक् पालन से ही सम्भव है, परन्तु श्रावकधर्म की उपेक्षा नहीं की गई है; बल्कि यह कहा गया है—

> वदसमिदिगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
> कुव्वंतोवि अभव्वो अण्णाणी मिच्छादिट्ठी दु॥ —समयसार, २९२

जिन-वाणी कहती है कि घर-द्वार छोड़ देने मात्र से कोई ज्ञानी नहीं बन जाता? व्रत, समिति, मन-वाणी और शरीर का संयम, ब्रह्मचर्य और तप का आचरण करता हुआ भी अभव्य जीव अज्ञानी तथा मूढ़ बना रहता है। इसी प्रकार सम्यक्त्व की विशुद्धि के बिना समस्त तत्त्वों को जान लेने से भी क्या? अनेक तप आदि क्रियाएँ भी शुद्ध सम्यग्दर्शन के बिना संसार की जनक हैं। कहा है—

> किं जाणिऊण सयलं तच्चं किच्चा तवं च किं बहुलं।
> सम्मविसोहिविहीणं णाणतवं जाण भवबीयं॥ —रयणसार, ११०

इसी प्रकार से वनवास करना, काया को कष्ट देकर उपवास करना, अध्ययन, मौन, आदि समतारहित श्रमण के कार्य निष्फल हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में—

किं काहदि वणवासो कायकलेसो विचित्तउववासो ।
अज्झयणमोणपहुदी समदारहियस्स समणस्स ॥ –नियमसार, १२४

श्री योगीन्द्रदेव भी यही कहते हैं । यथा—

गिरिगहनगुहाद्यारण्यशून्यप्रदेश–
स्थितिकरणनिरोधध्यानतीर्थोपसेवा ।
प्रपठनजपहोमैर्ब्रह्मणो नास्ति सिद्धिः ।
मृगय तदपरं त्वं भोः प्रकारं गुरुभ्यः ॥
दंसणरहिय जि तउ करहिं ताहं णिप्फल विणिट्ठ ।

—सावयधम्मदोहा, ५५

जिनके चित्त में ज्ञान का स्फुरण नहीं हुआ, ऐसा मुनि सम्पूर्ण शास्त्रों को जानता हुआ भी कर्मों का साधन करता हुआ सुख प्राप्त नहीं करता । मुनि रामसिंह के शब्दों में—

जसु मणि णाणु ण विप्फुरइ कम्महं हेउ करंतु ।
सो मुणि पावइ सुक्खु ण वि सयलइं सत्थ मुणंतु ॥

–पाहुडदोहा, २४

श्रावकधर्म के सम्बन्ध में जैन आचार्यों की दृष्टि व्यापक एवं उदार रही है । जो इस धर्म का आचरण करता है और मद्य-मांसादि का सेवन नहीं करता, वह ब्राह्मण, शूद्र, चाहे जो हो, वही श्रावक है । कहा भी है—

एहु धम्मु जो आयरइ बंभणु सुद्दु वि कोइ ।
सो सावउ किं सावयहं अण्णु किं सिरि मणि होइ ॥
मज्जु मंसु महु परिहरइ संपइ सावउ सोइ ।

–सावयधम्मदोहा ७६-७७

आचार्य कुन्दकुन्द ने यह भी बताया कि जैन लोग निरपेक्ष रूप से गृहस्थ और मुनिधर्म में स्थित हो करुणा भाव से दूसरों का उपकार करते हैं । उनके ही शब्दों में—

जेण्णाणं णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं ।
अणुकम्पयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो ॥

–प्रवचनसार, २५१

द्रव्य का विवेचन

द्रव्य का लक्षण सत् है । सत् या भाव का कभी विनाश नहीं होता । अभाव या असत् कभी उत्पन्न नहीं होता । भावों के केवल गुण और पर्यायों में रूपान्तरण होता रहता है । हमें पदार्थ में जो भी परिवर्तन लक्षित होता है, वह उसका परिवर्तनशील बाह्य रूप है । उसके आन्तरिक मूल रूप में कभी भी परिवर्तन नहीं होता । कहा है—

भावस्स णत्थि णासो अभावस्स चेव उप्पादो ।
गुणपज्जयेसु भावा उप्पादवए पकुव्वंति ॥ –पंचास्तिकाय, १५

आचार्य कुन्दकुन्द ने यहाँ पर बताया है कि भाव (सत्) का विनाश और अभाव (असत्) की उत्पत्ति नहीं होती । यही भाव हमें गीता में भी मिलता है । यथा—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टान्तोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

–श्रीमद्भगवद्गीता, २।१६

इस प्रकार द्रव्य (आत्मा) की दृष्टि से सत् का विनाश और असत् की उत्पत्ति नहीं होती। फिर, व्यवहार में जो यह कहा जाता है कि देव आकर जन्म लेता है, मनुष्य मर रहा है, यह सब जीवों के गतिनाम कर्म के समय-सूचना की दृष्टि से कहा जाता है कि यह मनुष्य (जीव) इतने समय तक इस गति में, शरीर में निवास करता रहा,अब उसे छोड़कर जा रहा है। कहा है–

> एवं सदो विणासो असदो जीवस्स णत्थि उप्पादो ।
> तावदिओ जीवाणं देवो मणुसो त्ति गदिणामो ॥ –पंचा., १९

द्रव्य का अर्थ है–जिसमें गुण और पर्यायें व्याप्त रहती हैं। द्रव्य न तो पर्यायों से वियुक्त है और न गुणों से। इसलिये गुण और पर्यायों के परिवर्तन से अलग उत्पत्ति और विनाश से द्रव्य की उत्पत्ति और विनाश माना जाता है। यथार्थ में द्रव्य के मूल रूप में कोई उत्पत्ति या विनाश नहीं होता। परमार्थ से द्रव्य शाश्वत एवं नित्य है और व्यवहार से परिवर्तनशील है। दूसरे शब्दों में, द्रव्य में रूपान्तरण या विकार नहीं होता, पर उसके गुणों और पर्यायों में रूपान्तरण या परिवर्तन होता रहता है। द्रव्य का यह विवेचन नय-प्रमाण एवं अनेकान्त पर आधारित है। इसीलिये समयसार में कहा गया है—

> दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ णवरि तु समयपडिबद्धो ।
> ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो ॥

—समयसार, १४३

निर्मल आत्मा की अनुभूति करने वाला दोनों नयों के कथन को जानता अवश्य है, पर किसी एक नय के पक्ष को स्वीकार नहीं करता। वह दोनों को सापेक्ष रूप से मानता है और पक्षपात से दूर रहता है। आचार्य सिद्धसेन ने भी यही कहा है कि जो अपने पक्ष का आग्रह करते हैं, वे सभी नय-दुर्नय या मिथ्या-दृष्टि हैं। नय सापेक्ष है और अन्योन्याश्रित हैं। कहा भी है—

> तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा ।
> अण्णोण्णणिस्सिया उण हवंति सम्मत्त सब्भावा ॥

—सम्मतितर्क, १, २१

शब्दः पुद्गल

शब्द पुद्गल की पर्याय है। पुद्गल रूपान्तरित होता रहता है। रूपान्तरण (Modification) की क्रिया के कारण पुद्गल रूपवान कहा जाता है। यहाँ रूप का अर्थ पदार्थ और ऊर्जा (Matter and Energy) है। शब्द एक पुद्गल-स्कन्ध के साथ दूसरे स्कन्ध के टकराने से ध्वनि रूप में उत्पन्न होता है, जो श्रवणेन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किया जाता है। स्कन्ध स्वयं अशब्द है। आचार्य कुन्दकुन्द की वाणी है—

> सद्दो खंधप्पभवो खंधो परमाणुसंगसंघादो ।
> पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादिगो णियदो ॥

—पंचास्तिकाय, ७९

विज्ञान के अनुसार भी पदार्थ के प्रकम्पन से शब्द उत्पन्न होता है; परन्तु पदार्थ स्वयं अशब्द है। अणु-परमाणु से कभी शब्द उत्पन्न नहीं होता। परमाणु (Atom) तो प्रत्येक क्षण स्कन्धों (Molecular) में प्रक-

भिन्न होते रहते हैं। इस प्रकार स्कन्धों के संघर्षण से शब्द उत्पन्न होता है। लगभग दो हजार वर्षों के पूर्व आचार्य कुन्दकुन्द ने जो यह दार्शनिक एवं तात्त्विक विचार आगमानुकूल विवेचित किया था, वह आज भी विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरता है। इसी प्रकार शब्द ध्वन्यात्मक तो होते हैं, पर सभी शब्द भाषात्मक नहीं होते। इसलिये भाषा का निर्माण केवल भाषिक काल में ही होता है। भौतिक विज्ञान के अनुसार ध्वनि के तरंगित एवं गतिशील होने में किसी न किसी माध्यम की आवश्यकता पड़ती है। इन पुद्‌गलों के स्कन्धों की यह विशेषता है कि वे ध्वनियों को रोक कर अपने में समाहित कर रखते हैं, भेजते हैं और धर्मद्रव्य की सहायता से गतिशील बनाते हैं। इसका विस्तृत विवेचन जैन आगम ग्रन्थों में वर्णित है, जिसमें यह कहा गया है कि पुद्‌गल में अनन्त शक्ति है। उसमें संकोच और विस्तार भी होता है। उसे खण्ड-खण्ड कर जोड़ा भी जा सकता है और जो भी सम्भव प्रक्रियाएँ हैं, उन सब के द्वारा उसका रूपान्तरण किया जा सकता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट रूप से इन्द्रियों के द्वारा उपभोग्य विषय, इन्द्रियाँ, शरीर, मन, कर्म और अन्य जो कुछ मूर्त हैं, सभी को पुद्‌गल बताया है (पंचा. ८२)। पुद्‌गल के उन्होंने चार भेदों का विवेचन किया है—स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश और परमाणु (पंचा. ७५)। स्कन्ध के भी छह भेद कहे गये हैं—पृथ्वी, जल, छाया, नेत्र के अतिरिक्त इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करने वाले, कर्मयोग्य और कर्म-अयोग्य स्कन्ध। (नियमसार, २०)

इन सब का वर्णन भौतिक विज्ञान के फलित निष्कर्षों के रूप में किया गया है और बताया गया है कि आत्मा अनादिकाल से राग-द्वेप आदि कर्म-रज से उत्थित पुद्‌गल कर्म-वर्गणाओं से संश्लिप्ट होकर जन्म-मरण के अनेक दुःखों को भोग रहा है। आत्मा से कर्म-रज की चिपकन को ही बन्ध की संज्ञा दी गई है। बन्ध संसार का कारण है और बन्ध की मुक्ति अखण्ड आनन्द की साधिका है। यह जीवात्मा जब राग-द्वेप के संयोग से शुभ-अशुभ भावों में परिणमन करता है, तब कर्म-रज नाना नाम-रूपों में कर्म मे प्रवेश करती है। कहा भी है—

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहि ॥ –प्र० सा०, १८७

उक्त वैज्ञानिक मान्यता का प्रतिपादन कर चुकने पर "रयणसार" में कर्मों की वीमारी को दूर करने का उपाय वताते हुए कहते हैं कि सब से पहले मिथ्यात्व रूपी मल की शुद्धि करने हेतु सम्यक्त्व रूपी औपध का सेवन करो। एक सुविज्ञ वैद्य जब तक पुराने रोगी का मल-शोधन नहीं करता, तब तक उसे दवा लाभ नहीं पहुँचाती। यहाँ पर भी आचार्य कुन्दकुन्द एक पूर्ण आध्यात्मिक वैज्ञानिक की भाँति कहते हैं कि जब तक पहले की गन्दगी, कर्मों का कचरा साफ नहीं करते, तब तक आत्मा में शुद्धि नहीं आ सकती। आत्मा की शुद्धि के विना–गन्दे वरतन में आप अमृत कैसे धारण कर सकते हैं? आत्मा की शुद्धि होने पर ही धर्म (परमार्थ रूप से वास्तविक) धारण किया जा सकता है। धर्म आत्मा के शुद्ध समभाव का नाम है और वही निश्चय से चारित्र है। उनके ही शब्दों में—

पुव्वं सेवइ मिच्छामलसोहणहेउ सम्मभेसज्जं।
पच्छा सेवइ कम्मामयणासणचरियभेसज्जं ॥ –रयणसार, ६२

इसी प्रकार से—

गारवमलकलुसाणं णियरूवं ण दीसए किं पि ।
समलादरिसे रूवं ण दीसए जह तहा णेयं ॥ —रयणसार, ७०

जैसे धुंधले दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब स्पष्ट नहीं दिखलाई पड़ता, वैसे ही रागादिक मिथ्यात्व-मल से मलिन रहते हुए आत्मा का शुद्ध स्वरूप अनुभव और ज्ञान में नहीं आता।

ज्ञान की सर्वश्रेष्ठता का प्रतिपादन

आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं का सार है—शुद्ध आत्म-ज्ञान की प्राप्ति। वे कहते हैं कि ज्ञान से ध्यान की सिद्धि होती है, ध्यान से सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा होती है और निर्जरा का फल मुक्ति है। इसलिये मुक्ति प्राप्त करने के लिये ज्ञानाभ्यास करना चाहिये। यथा—

णाणेण झाणसिज्झो झाणादो सव्वकम्मणिज्जरणं ।
णिज्जरणफलं मोक्खं णाणब्भासं तदो कुज्जा ॥ —रयणसार, १३८

आत्म-ज्ञान, ध्यान और अध्ययन से उत्पन्न होने वाला सुख अमृत के समान है। कहा भी है—

अप्पाणियणाण-झाणज्झयणं सुहामियरसायणप्पाणं ।
मोत्तूणक्खाणसुहं जो भुंजइ सो हु बहिरप्पा ॥ रयणसार, ११६

ज्ञान समस्त जीवन का सार है। जिससे तत्त्व-ज्ञान होता है, जिससे चित्त का व्यापार रुक जाता है और जिससे आत्मा विशुद्ध होती है, उसे जिनशासन में ज्ञान कहा गया है। स्वयं उनके ही शब्दों में—

जेण तच्चं विबुज्झेद जेण चित्तं णिरुज्झदि ।
जेण अत्ता विसुज्झेद तं णाणं जिणसासणे ॥ —मूलाचार, २६७

"रयणसार" का संक्षिप्त सार यही है कि इसमें सम्यक्त्व, ज्ञान, वैराग्य और तप का वर्णन किया गया है, जो आत्मा के वास्तविक स्वभाव को प्रकट करने वाले हैं। कहा है—

सम्मत्तणाणं वेरग्गतवोभावं णिरीहवित्तिचारित्तस्स ।
गुणसीलसहावं उप्पज्जइ रयणसारमिणं ॥ —रयणसार, १५९

निरपेक्ष वृत्तियों का कोई महत्त्व नहीं है। क्योंकि तप से रहित ज्ञान और ज्ञान से रहित तप व्यर्थ है। ज्ञान और तप से युक्त मनुष्य ही मुक्ति को प्राप्त करता है। कहा भी है—

तवरहियं जं णाणं णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो ।
तम्हा णाणतवेणं संजुत्तो लहइ णिव्वाणं ॥ —मोक्षपाहुड, ५९

आचार्य कुन्दकुन्द ने ज्ञान से आत्मा को भिन्न नहीं माना है। इसलिये उनका कथन है कि जो जानता है, सो ज्ञान है। जानने वाला जीवात्मा है। ज्ञान आत्मा में रहता है। आत्मा से भिन्न अन्यत्र ज्ञान का अस्तित्व नहीं है। अतएव जीव ज्ञान है। उनके ही शब्दों में—

यथा— जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा ।
तम्हा णाणं जीवो णेयं दव्वं तिहा समक्खादं ॥

—प्रवचनसार, ३५-३६

धर्म का स्वरूप

धर्म विषयक मान्यता के सम्बन्ध में आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि बहुत गहरी और सुलझी हुई लक्षित होती है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में चारित्र को धर्म उद्घोषित किया है। चारित्र का तीनों स्तरों पर उनका विवेचन अपूर्व है। यह सभी जानते हैं कि व्यवहार में सदाचार धर्म है। यदि व्यक्ति सदाचारी न हों, सब दुराचारी हों, तो समाज का टिकना कठिन ही नहीं, असम्भव हो जाएगा। समाज की रक्षा के लिये शील या सदाचार अमोघ अस्त्र के समान है। धर्म प्राणी मात्र को जीना सिखाता है। श्रावक का जीवन धर्म को सुनने वाले और सुनकर उसे अपने जीवन में उतारने वाले लोगों का जीवन है। आरामतलबी और ऐयाशी का जीवन कभी श्रावक का जीवन नहीं हो सकता। क्योंकि श्रावक 'श्रमण' की तैयारी का जीवन है। श्रावक का आदर्श श्रमण का जीवन है। इसका यह अर्थ नहीं है कि दुनिया के सब लोग घर-द्वार छोड़कर साधु हो जाएँ। वास्तव में विषय-कषायों को घटाना ही श्रमण तथा श्रावक का लक्ष्य है। 'श्रमण' श्रम के उपासक कहे गये हैं। वे दुर्धर तप करते हैं। श्रावक को भी परिश्रमी तथा कर्मनिष्ठ होना चाहिये। यदि मनुष्य ईमानदार और मेहनती नहीं है, तो वह श्रावक का बाना भले ही धारण कर ले, पर श्रावक नहीं हो सकता। साधु के वेश को धारण कर लेने पर भी जो पाप से लिप्त रहते हैं, वे दुर्गति को प्राप्त करते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में—

> जे पावमोहियमई लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं।
> पावं कुणंति पावा ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि॥ —मोक्षपाहुड, ७८

इस प्रकार के मिथ्या आचरण करने वाले वास्तविक साधु नहीं होते। क्योंकि वे न तो निर्मल आत्मा के दर्शन करते हैं, न अपने को देखते हैं, न जानते हैं और न अपनी आत्मा का श्रद्धान करते हैं, इसलिए वे केवल साधु-वेश को बोझ की तरह धारण करते हैं। कहा है—

> अप्पाणं पिण पिच्छइ ण मुणइ णवि सद्दहइ भावेइ।
> बहुदुक्खभारमूलं लिंगं घेत्तूण किं कुणई॥ —रयणसार, ७७

परन्तु न्याय व ईमानदारी के साथ धन का उपार्जन करता हुआ श्रावक यदि अपनी शक्ति के अनुसार जिन-पूजा, करता है, उत्तम पात्रों को दान देता है और सम्यक्त्व पूर्वक धर्म का पालन करता है, तो उसे धार्मिक व मुक्ति-मार्ग में लगा हुआ समझना चाहिये। उनके ही शब्दों में—

> जिणपूया मुणिदाणं करेइ जो देइ सत्तिरूवेण।
> सम्माइट्ठी सावय धम्मी सो होइ मोक्खमग्गरओ॥ —र०सा०, १२

व्यवहार में चारित्र धर्म है। दया के बिना कोई धर्म नहीं हो सकता। इसलिए जहाँ दया है, वहाँ धर्म है। विशुद्ध दया या अहिंसा समान अर्थ के प्रकाशक हैं। संसार के सब धर्मों में अहिंसा का महत्त्व बताया गया है। बिना अहिंसा के कोई वास्तविक धर्म नहीं हो सकता।

निश्चय से समभावी होना चारित्र है। इसके दो स्तर कहे जा सकते हैं—प्रथम स्तर की भूमिका में मनुष्य जिस समय जो काम करना चाहता है, उसके साथ ही कषाय यानी क्रोध, मान, माया, लोभ, आदिक परिणामों में मन्दता होनी चाहिए। द्वितीय भूमिका में शुद्ध आत्मानुभूति की ओर सदा लक्ष्य रखना चाहिए तथा परिणामों की विशुद्धता के साथ मोही-

अज्ञानी जीवों तथा उनकी अनुष्ठ व्यावहारिक क्रियाओं को देख कर उनकी उपेक्षा तथा निन्दा नहीं करनी चाहिए। तृतीय भूमिका में आत्मज्ञान हो जाने पर सदा विशुद्ध अखण्ड परमात्मा की स्वसंवेदनात्मक अनुभूति में लीन रहना चाहिये। इनका अलग-अलग विस्तार से वर्णन आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं में मिलता है। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

> देवगुरु अणुरत्ता विसयविरत्ता कसायसंजुत्ता ।
> अप्पसहावे सुत्ता ते सहू सम्मपरिचत्ता ॥ —रयणसार, १३

यथा—

द्रव्य रूप से, गुण रूप से और पर्याय रूप से जो जीवात्मा को और शुद्ध निर्मल अपनी आत्मा को जानता है, वह मुक्ति-पथ का नायक होता है। यथा—

> दव्वगुणपज्जएहिं जाणइ परसमयससमयादिभेदं ।
> अप्पाणं जाणइ सो सिवगइपहणायगो होइ ॥ —रयणसार, १२७

चारित्र का स्वरूप बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

> चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो ।
> मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥
> —प्रवचनसार, ७

अर्थात् निश्चय से चारित्र धर्म है। ऐसा कहा गया है कि जो साम्य है, वह धर्म है। मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम साम्य है।

"रयणसार" में भी यही कहा गया है कि आत्मा साम्यभाव में उपलब्ध होता है। किन्तु यह जीवात्मा मिथ्याबुद्धि के कारण मोह-मदिरा में उन्मत्त होकर अपने आप को भूल गया है और इसलिए आत्मा के सच्चे स्वरूप को नहीं पहचान पाता है। कहा है—

> मिच्छामइमयमोहासवमत्तो बोलए जहा भुल्लो ।
> तेण ण जाणइ अप्पा अप्पाणं सम्मभावाणं ॥ —रयणसार, ४७

ज्ञानी अपनी शुद्ध आत्मा में सदा लीन रहता है। यथा—

> णिय सुद्धप्पणुरत्तो बहिरप्पावत्थवज्जिओ णाणी । —र०सा०, ६

लोक-कल्याण की भावना

आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं में लोक-कल्याण की भावना स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। रचना में प्रवृत्त होने का एक मात्र कारण जनता की भलाई रहा है। वे कहते हैं कि जितने वचनपन्थ हैं, उतने नयवाद हैं और जितने नयवाद है, उतने मत है। सभी मत और सम्प्रदाय मानव के लिए है। मानव मत और सम्प्रदाय के पीछे नही है। इसलिए किसी भी मत और धर्म के पालन के लिए मनुष्य को रोक-टोक नहीं होनी चाहिए। मानव अपने गुणों के कारण संसार के सब प्राणियों में श्रेष्ठ है। शरीर वन्दन योग्य नही होता, कुल और जाति भी वन्दनीय नही होते। गुणहीन श्रमण और श्रावक की कोई वन्दना नहीं करता। उनके ही शब्दों में—

> ण वि देहो वंदिज्जइ ण वि य कुलो ण वि य जाइसंजुत्तो ।
> को वंदइ गुणहीणो ण हु सवणो णेय सावओ होइ ॥
> —दंसणपाहुड, २७

अतएव आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि जो मनुष्य दान नहीं देते, पूजा नहीं करते, शील या सदाचार का पालन नहीं करते और गुणों को धारण नहीं करते, वे चारित्रवान नहीं होते। दुश्चरित्र लोग मर कर बुरी गतियों में जाते हैं, या फिर कुत्सित मनुष्य होते हैं। कहा भी है—

णहि दाणं णहि पूया णहि सीलं णहि गुणं ण चारित्तं ।
जे जइणा भणिया ते णरया हुंति कुमाणुसा तिरिया ॥
—रयणसार, ३६

आचार्य कुन्दकुन्द ने विधि-निषेध सम्बन्धी जो भी बातें कहीं हैं, वे केवल जैन लोगों के लिए नहीं हैं, वरन् प्राणी मात्र के लिए समान रूप से हितकारी हैं। इसलिए यह नहीं समझना चाहिए कि जो जैनधर्म मानता है, वह मिथ्यादृष्टि नहीं है और जो नहीं मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। वास्तव में यह हमारा भ्रम है। आचार्य कुन्दकुन्द ने मिथ्याबुद्धि वाले मनुष्य को जो योग्य-अयोग्य, नित्य-अनित्य, हेय-उपादेय, सत्य-असत्य, भव्य-अभव्य को अर्थात् अच्छे-बुरे को नहीं जानता, उसे भी मिथ्यादृष्टि कहा है। यथा—

णवि जाणइ जोग्गमजोग्गं णिच्चमणिच्चं हेयमुवादेयं ।
सच्चमसच्चं भव्वमभव्वं सो सम्मउम्मुक्को ॥ —रयणसार, ३८

मूढ़ प्राणी अपने मोह को नहीं छोड़ता। इसलिए वह अनेक तरह के दारुण कर्मों को करता हुआ संसार में भटकता रहता है, संसार का पार नहीं पाता। इस प्रकार वह अनेक दुःखों को भोगता है। कहा है—

मोह ण छिज्जइ अप्पा दारुणकम्मं करेइ बहुवारं ।
णहु पावइ भवतीरं किं बहुदुक्खं वहेइ मूढमई ॥
—रयणसार, परिशिष्ट, ९

आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट रूप से गृहस्थ और साधु दोनों के लिए मिथ्या-बुद्धि एवं अन्धविश्वास त्याग करने का उपदेश दिया है। उनका कथन है कि हम कहीं भी और किसी भी अवस्था में हों; जब तक दृष्टि नहीं पलटती है, तब तक सच्चा आत्मविश्वास, आत्मज्ञान और आत्मचारित्र प्रकट नहीं होता है। कहा है—

सम्मविणा सण्णाणं सच्चारित्तं ण होइ णियमेण ।
तो रयणत्तयमज्झे सम्मगुणक्किट्ठमिदि जिणुद्दिट्ठं ॥ र०सा०, ४३

आगम-दृष्टि से ही आत्मदृष्टि उपलब्ध होती है। सम्यक्त्व की प्राप्ति में आगम-दृष्टि निमित्त है। सम्यग्दृष्टि ही आगम और जिनवाणी को भलीभाँति समझते हैं। इस दृष्टि के बिना उनकी मान्यता अन्धविश्वास ही कही जाती है। कहा भी है:—

देवगुरुधम्मगुणचारित्तं तवायारमोक्खगइभेयं ।
जिणवयणसुदिट्ठिविणा दीसइ किह जाणए सम्मं ॥ र०सा०, ४५

जिनकी दृष्टि बहिर्मुखी है और जो लोक-रंजन में लगे हुए हैं, वे सम्यक्त्व से रहित हैं। सम्यग्दृष्टि सांसारिक कार्यों में आसक्त नहीं होते। उनकी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी होती है। वे विषय-कषायों तथा संग्रहवृत्ति से उदासीन रहते हैं। इसलिए वे "लोयववहारपउरा" नहीं होते—

जे पावारंभरया कसायजुत्ता परिग्गहासत्ता ।
लोयववहारपउरा ते साहू सम्मउम्मुक्का ॥ र० सा०, ९७

अन्य ग्रन्थों में उल्लिखित 'रयणसार' के सन्दर्भ

न तो "रयणसार" की कोई प्राचीन संस्कृत टीका मिलती है और न सतरहवीं शताब्दी के पूर्व के ग्रन्थों में कोई उद्धरण ही मिलते हैं। पं.

भूधरदास जी के "चर्चा समाधान" में मिथ्यात्व के प्रसंग में "रयणसार" का उल्लेख मिलता है। उसमें पृ. ७२ पर गाथा नं. ३२, ३३, ३५ और ३६ इन गाथों के उद्धरण के साथ लिखा हुआ मिलता है—"दूजे देवधन के ग्रहण का फल कुन्दकुन्दाचार्यकृत रयणसारविषै कह्या है। तथाहि, गाथा—"

इसी प्रकार से पं. दौलतराम कृत "क्रियाकोष" में पृ. ८ पर 'रयणसार' की गाथा उद्धृत कर श्रावक की त्रेपन क्रियाओं का उल्लेख किया गया है। पं. सदासुखदासजी ने "रत्नकरण्डश्रावकाचार" की वचनिका में लिखा है—"कुन्दकुन्दस्वामी समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, रयणसार, अष्टपाहुड आदि ग्रंथ अनेक ग्रन्थ रचे ते अबार प्रत्यक्ष बाँचने, पढ़ने में आवें हैं।" (संयम अधिकार, पृ. २३६)

स्व. मुनिश्री ज्ञानसागरजी महाराज ने 'समयसार' की प्रस्तावना के अन्तर्गत लिखा है—तथापि 'रयणसार' की निम्न (१३१, १३२) गाथाओं द्वारा श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने यह स्पष्ट कर दिया है कि परमात्मा (अर्हंत और सिद्ध) तो स्वसमय हैं और क्षीणमोह गुणस्थान तक जीव 'परसमय' हैं। इससे स्पष्ट है कि असंयत सम्यग्दृष्टि 'स्वसमय' नहीं है, परसमय है।"

पाठ-सम्पादन-पद्धति

अभी तक "रयणसार" के प्रकाशित पाठों में दो तरह के पाठ मिलते हैं। एक पाठ के अनुसार इस ग्रन्थ की पद्य-संख्या १६७ है और दूसरे के अनुसार १५५ है। माणिकचन्द्र-ग्रन्थमाला से प्रकाशित "षट्प्राभृतादि-संग्रह" में प्रथम पाठ देखने को मिलता है। दूसरा पाठ मुख्य रूप से १९०७ में प्रकाशित पं. कलाप्पा भरमाप्पा के मराठी अनुवाद वाले संस्करण में मिलता है। इसके अतिरिक्त कन्नड़ में टी. बी. नागप्पा के द्वारा सम्पादित तथा चामराजनगर से प्रकाशित संस्करण में १६५ गाथाएँ मिलती हैं। कन्नड़ के इस ग्रन्थ में प्रकाशित १६७ गाथाओं में से आठवीं और १५४ वीं गाथाएँ लक्षित नहीं होतीं। सन् १९४२ में मैसूर से प्रकाशित श्री ब्रह्मसूरि शास्त्री के द्वारा सम्पादित इस ग्रन्थ में पद्य-संख्या १६७ ही है। यह हिन्दी अनुवाद सहित है और साथ में पद्यानुवाद भी दिया गया है। पद्यानुवाद किसी पुराने कवि का लिखा हुआ जान पड़ता है। हिन्दी पद्यानुवाद की एक हस्तलिखित प्रति जयपुर से प्राप्त हुई है। यह दि. जैन तेरहपंथी बड़ा मन्दिर, जयपुर की वेष्टन सं. १५२३ में पृ. ४५-५६ में संकलित है। उसमें पद्यानुवाद करने वाले के नाम का उल्लेख नहीं है। इसमें कुल १५६ पद्य हैं, किन्तु अन्तिम दो प्रशस्ति के हैं, इसलिए १५४ पद्यों का यह अनुवाद है। इसकी रचना-तिथि वि. सं. १७६८ है। कहा भी है—

> कुन्दकुन्दमुनि मन कवि गाथा प्राकृत कीन।
> ता अनुक्रम भाषा रच्यौ गुन प्रभावना लीन ॥१५५॥
> सतरह सौ अठसठि अधिक जेठ सुकुल ससिपूर।
> जे पंडित चातुर निरखि दोष करैं सब दूर ॥१५६॥

इति श्रीरयणसार ग्रंथ यतिश्रावकाचार संपूर्ण समाप्तः ॥ शुभं भवतु ॥

श्री दि. जैन सरस्वती-भण्डार, धर्मपुरा, नया मन्दिर, दिल्ली में रयणसार की हस्तलिखित चार प्रतियाँ वर्तमान हैं। इनमें से एक प्रति में १५४ गाथाएँ मिलती हैं। लगभग इन्हीं गाथाओं के आधार पर हिन्दी पद्या-

श्री दि. जैन तेरह पंथी बड़ा मन्दिर, जयपुर में तीन अन्य हस्तलिखित प्रतियाँ भी मिलती है, जो वि. सं. १८८३ की लिखी हुई हैं। इनमें से एक प्रति में १५५ गाथाएँ हैं और अन्य दो में १७० गाथाएँ हैं।

(ब) प्रति–ऐ. पन्नालाल दि. जैन सरस्वती भवन, ब्यावर। क्रम सं. ३५९१-८३९। पत्र सं. ११। गाथा सं. १७५। ले. सं. वैशाख वदी ८, शनिवार वि. सं. १९९५।

इस प्रति में कई गाथाओं के लेखन में आवृत्ति हुई है। दो बार लिखी जाने वाली गाथाओं की संख्या इस प्रकार है —

५२, ५३, ५४, ६०, ९१, १२२, १२६, १५४, १६६, १६७, १६८, १७१, १७३।

इनमें से १२६ संख्या की गाथा का उल्लेख तीन बार मिलता है। इस प्रकार गाथाओं की कुल संख्या १६१ है।

(म) प्रति--जैन मठ का भण्डार, मूडबिद्री। ताड़पत्र प्रति। क्र. सं. ३३६। गाथा सं. १५५।

इस प्रति में मुद्रित १६७ गाथाओं में से निम्न-लिखित १२ गाथाएँ नहीं हैं—

८,३४,३७,४६,५५,५७,६६,६७,१११,१२२,१२३। वस्तुतः यह संख्या ११ ही है।

(य) प्रति–वीर-वाणी-विलास जैन सिद्धान्त-भवन, मूडबिद्री। क्र. सं. ४१। गाथा सं. १५५। इस प्रति में मुद्रित १६७ गाथाओं में से निम्नलिखित १२ गाथाएँ नहीं हैं—

८,३४,३७,४६,५५,५७,६६,६७,८३,१११,१२२,१२३।

यद्यपि गाथाओं की संख्या १५२ उल्लिखित है, पर आगे-पीछे होने के कारण संख्या में कुछ गड़बड़ी प्रतीत होती है। पाठ-भेद के अनुसार केवल १२ गाथाएँ कम हैं।

इसी प्रकार से उत्तर भारत की प्रतियों में भी क्रम-संख्या ठीक न होने से लोगों को भ्रम हुआ, प्रतीत होता है। कई प्रतियों में भीतर की क्रम-संख्या कम या अधिक हो गई है। जब हमने प्रतियों का अन्तरंग-परीक्षण किया तो १७० गाथा वाली प्रतियों में १६७ गाथाओं में से एक भी गाथा अधिक नहीं मिली। यही स्थिति १७५ गाथाओं वाली प्रतियों की है। उसमें एक ही गाथा कहीं-कहीं एक से अधिक वार दुहराई गई है। गाथाओं की पुनरावृत्ति होने से भी बड़ा भ्रम फैला है।

यद्यपि "रयणसार" की कई प्रतियाँ दक्षिण भारत से लेकर उत्तर भारत तक के विविध शास्त्र-भण्डारों में उपलब्ध होती हैं, जिनको देखकर सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि इस ग्रन्थ के पठन-पाठन का प्रचार तथा प्रचलन रहा है और इसलिये कोई कारण नहीं है, जो इसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में सन्देह प्रकट किया जाए। किन्तु असुविधावश उन प्रतियों को प्राप्त करने और देखने का सुयोग नहीं मिल सका है। हमारी जानकारी में इसकी दो प्रतियाँ क्रम सं. २८२ और २८६ जैन मठ, श्रवणवेलगोल में विद्यमान हैं। इसकी एक प्रति विश्व-विद्यालय, मैसूर में क्रम सं. ५३ (क) उपलब्ध है, जिसमें गाथा सं. १५५ है। जैन मठ भण्डार, मूडबिद्री में इसकी एक अन्य प्रति क्रम सं. ८१५ मिलती है, जिसमें गाथाओं की संख्या १५२ है। वहीं पर क्रम संख्या १८६ की

प्रति में गाथाओं की संख्या २५६ बताई गई है। ये सभी ताड़पत्रीय प्रतियाँ हैं। इनकी लिपि स्पष्ट है। क्रम सं. ८१५ वाली प्रति में कन्नड़ टीका भी उपलब्ध है; किन्तु उसमें प्रारम्भिक पत्र नहीं है।

श्री दि. जैन पंचायती मन्दिर, दिल्ली में भी इसकी एक हस्तलिखित प्रति थी, जो एक बार देखने के पश्चात् पुनः मिलान करने के लिए नहीं मिल सकी। उस प्रति में निम्न-लिखित गाथाएँ नहीं मिलतीं—

८,१७,३१,४७,५२,५३,५७,६०,६३,६६,६७,९१, ९६, १०१, १०२, १०८, १०९,११०,१११,११३,१२५,१५०,१५१,१५२ ।

किन्तु यह संख्या प्रामाणिक प्रतीत नहीं होती। अन्तरंग परीक्षा से ही इसका निर्णय किया जा सकता है। अन्त में हिन्दी पद्यानुवाद को भी ध्यान में रखा गया है। हिन्दी के पद्यानुवाद में इसकी संख्या १५४ है। इसमें जिन गाथाओं का पद्यानुवाद नहीं है, उनकी क्रमसंख्या है—

८,३४,३७,४६,५४,५७,६०,६३,६६,६७,१११,१२२,१२३,१३६।

इस प्रकार कुल संख्या १४ है। हिन्दी पद्यानुवाद की प्रति को ध्यान से देखने पर यह भी पता लगता है कि लगभग ढाई सौ वर्षों के पूर्व तक परम्परा ठीक चल रही थी। आचार्य कुन्दकुन्द की रचना का भाव भी बराबर समझते थे। किन्तु बीच में पठन-पाठन में शिथिलता आने के कारण पाठ-भेदों में गड़बड़ी, लिपि में अशुद्धियों की अधिकता और प्रक्षेपक गाथाओं का समावेश मिलता है।

प्रस्तुत संस्करण में इन सभी बातों को ध्यान में रखकर गाथाओं का निर्धारण किया गया है। यथा सम्भव इसमें मूलगामी उचित संशोधन किया है। प्रामाणिकता के लिए विविध पाठों का भी यथास्थान निर्देश किया है। परिशिष्ट में उद्धृत उद्धरणों से भी स्पष्ट है कि रचना आगमानुकूल है। विस्तार के भय से कुछ ही सन्दर्भों का चयन किया गया है। इस प्रकार के सन्दर्भों का संकलन कर आगम की प्रामाणिक परम्परा का उल्लेख किया जा सकता है, जो एक स्वतन्त्र शोध व अनुसन्धान का विषय है।

वर्तमानयुगीन हिन्दी भाषा को ध्यान में रखकर हम पाठकों के अर्थ-बोध के लिए रचना में प्रयुक्त "मिथ्यात्व" और "सम्यक्त्व" इन दो पारिभाषिक शब्दों के पर्याय रूप में प्रथम बार क्रमशः "अज्ञानता" और "विवेक की जागृति" शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं। आशा है पाठक इसी रूप में इन को मान्यता देंगे। इनसे अर्थबोध में कोई कमी नहीं आती है। फिर, ये व्यापक अर्थ को देते हैं। इनकी अर्थवत्ता में हमारा सामान्य भाव समाहित है। कुछ अन्य शब्दों के पर्याय रूप में "नय" (प्रमाणांश), "निक्षेप" (आरोप), "मूढ़ता" (लोकरूढ़ि), अनायतन (कुसंसर्ग), व्यसन (कुटेव), श्रावक (सद्गृहस्थ) आदि उदाहृत हैं।

यद्यपि कई वर्षों से मेरे मन में यह विचार लहरा रहा था कि आचार्य कुन्दकुन्द के कई ग्रन्थों का विभिन्न बार अनेक स्थानों से प्रकाशन हो चुका है, किन्तु उन सब में श्री माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला और परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई के प्रकाशनों को छोड़कर इधर सोनगढ़ से लागत मूल्य पर अच्छे ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि आचार्य कुन्दकुन्द परम आध्यात्मिक सन्त थे। उनकी मूल दृष्टि परमार्थ की ओर रही है। किन्तु वे व्यवहार को सर्वथा हेय नहीं समझते थे।

हमारे विचार से "रयणसार" में श्रावकों की त्रेपन क्रियाओं, दान, दया-पूजा, आदि के अतिरिक्त कोई ऐसे विषय का वर्णन नहीं है, जो उनकी अन्य रचनाओं में न मिलता हो। फिर क्या कारण है कि "रयणसार" को कुछ लोग प्रामाणिक नहीं मानते? किन्तु अपने विचारों की छान-बीन करने का कोई समय नहीं निकाल सका था। इस बीच इन्दौर से विहार करते हुए पूज्य मुनिश्री विद्यानन्दजी म. का नीमच पदार्पण हुआ, और तभी प्राकृत भाषा के कतिपय शब्दों के सन्दर्भ में चर्चा हुई। धीरे-धीरे शब्दों की चर्चा ने वार्त्ता का रूप ग्रहण कर लिया। मुनिश्री-जी की शोध-अनुसन्धान विषयक रुचि तथा अध्ययन-ध्यान की प्रवृत्ति ने सहज ही मुझे अपनी ओर आकर्षित कर लिया। वस्तुतः "रयणसार" का सम्पादन और अनुवाद का यह कार्य पूज्य मुनिश्री जी की सतत प्रेरणा और आशीर्वाद का फल है। इसमें मेरा अपना कुछ भी नहीं है। क्योंकि यह पहले ही कहा जा चुका है कि अब तक "रयणसार" कई स्थानों से तथा कई भाषाओं में प्रकाशित हो चुका है। इसलिए हमारे सामने एक शुद्ध संस्करण तैयार करने की समस्या थी। "रयणसार" का प्रारम्भिक कार्य पूज्य मुनिश्रीजी के निर्देशन में आरम्भ हुआ था। किन्तु इसकी मूल समस्या की ओर मुनिश्री का ध्यान हम ने एक लेख लिख कर दिलाया था, जो "अनेकान्त" (२५, ४-५, पृ. १५१) में "रयणसार": आचार्य कुन्दकुन्द की रचना" शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। हमने अपनी समझ से तथा उत्तर भारत की हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर जो पाठ निश्चित किए थे, उनका मिलान स्वयं मुनिश्रीजी ने श्री महावीरजी में कन्नड़ी मुद्रित प्रति के आधार पर किया था। तदनन्तर पाठभेद की प्रक्रिया उतनी जटिल नहीं रह गई। दक्षिण भारत की प्रतियों से मिलान करने के लिए हमने पं. के. भुजबली शास्त्री से निवेदन किया। उन्होंने समय-समय पर हमारी जो सहायता की, उसके लिये हम हृदय से उनके आभारी हैं। श्री पं. देवकुमार जैन मूडबिद्री ने श्री वीरवाणी विलास जैन सिद्धान्त भवन, मूडबिद्री तथा जैन मठ का भण्डार, मूडबिद्री की ताड़पत्र प्रतियों का मिलान कर हमारी जो सहायता की, उसके लिये हम उनके बहुत आभारी हैं? मठ के भण्डार से प्रति प्राप्त करने में पं. नागराज जी शास्त्री और ट्रस्टी श्रीमान् बी. नागकुमारजी शेट्टी की कृपा के लिए कृतज्ञ हैं। इसी प्रकार डॉ. कस्तूरचन्दजी कासलीवाल, जयपुर ने प्रति प्रदान कर और पं. हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री ने ब्यावर-भण्डार से हस्तलिखित प्रति भेजकर जो सहायता प्रदान की, उसके लिये भी आभारी हैं। समय-समय पर पं. मूलचन्द्रजी शास्त्री से जो विमर्श मिला है, तदर्थ आभार है। पूज्य मुनिश्री जी का यदि आशीर्वाद प्राप्त न हुआ होता तो यह कार्य सम्पन्न होना कठिन था। वास्तव में यह उनके आशीर्वाद का ही फल है। स्वस्ति श्री चारुकीर्ति भट्टारकजी के परम स्नेह व सौजन्य से प्राप्त ताड़पत्रीय चित्रों के लिए कृतज्ञता ज्ञापन करना उपचार मात्र है। श्रद्धेय पाटोदी जी तथा माणिकचन्द्र जी पाण्ड्या से प्राप्त सतत स्नेह तथा सहयोग को व्यक्त करने के लिए शब्द सीमित प्रतीत होते हैं। वास्तव में उनके अध्यवसाय तथा सद्प्रयत्न से, एवं डॉ. नेमीचन्दजी जैन की सौन्दर्यमूलक दृष्टि से यह रचना इस नयनाभिराम रूप में प्रकाशित हो सकी है। अन्त में नई दुनिया प्रेस वालों का आभार है, जिन्होंने कम समय में ही इस रूप में प्रकाशन कर इसे सुलभ बनाया।

श्री पार्श्वनाथ जयन्ती,
पौष कृ. १०, वीर निर्वाण सं. २५००

—देवेन्द्रकुमार शास्त्री

संक्षिप्त शब्द-सांकेतिकी

°	पाठ-भेदसूचक चिह्न
★	तारांकित (विशिष्ट सूचन)
आ०	आचार्य
प०	पद्याङ्क
गा०	गाथा
पंचा०	पंचास्तिकाय
प्र० सा०	प्रवचनसार
भाव० पा०	भावपाहुड
मो० पा०	मोक्षपाहुड
र० सा०	रयणसार

मोहंधयार-पडियाण जणाण विसयसंजुत्ताण ।
णिम्मलणाणवियासे दिणयर–किरणोहसव्भासो ।।
णाणं णरस्स सारो भणियं खलु कुंदकुंदमुणिणाहे ।
सम्मत्त-रयणसारो आलोयदु सव्वदा लोये ।।

मोह-अन्धकार में पड़े हुए और विषय-वासनाओं से लिपटे हुए अज्ञानी जनों के लिये सूर्य की किरणों की भांति निर्मल ज्ञान का प्रकाशक तथा ज्ञान ही जिसमें मनुष्य का सर्वोत्तम है, ऐसे लोक में भगवत् कुन्द-कुन्दाचार्य का कहा हुआ सभी रत्नों में श्रेष्ठ सम्यक्त्व रूप यह 'रयण-सार' सदा आलोकित रहे ।

स्वस्ति श्री चारुकीर्ति भट्टारक स्वामीजी श्रवणबेलगोला (कर्नाटक) के सौजन्य से प्राप्त कुन्दकुन्दाचार्य कृत 'रयणसार' की ताडपत्रीय प्रति के चित्र (कन्नड़ लिपि)
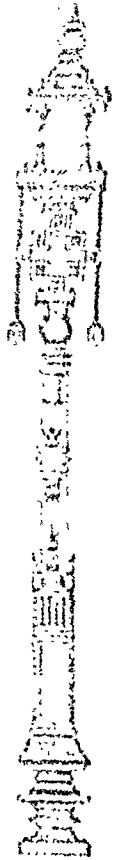
रयण-सार
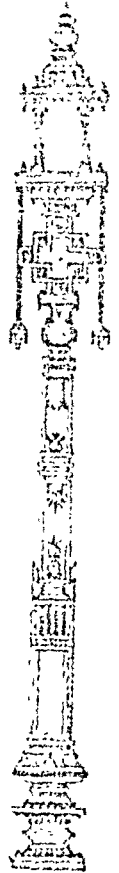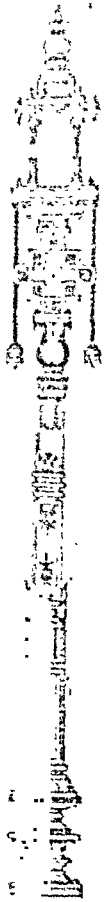
कुन्दकुन्दाचार्य

भगवत् आचार्य कुन्दकुन्द कृत

रयण-सार

णमिऊण वड्ढमाणं परमप्पाणं जिणं तिसुद्धेण[1]।
वोच्छामि[2] रयणसारं सायारणयारधम्मीणं[3] ॥१॥

नत्वा वर्द्धमानं परमात्मानं जिनं त्रिशुद्धया ।
वक्ष्ये रत्नसारं सागारानगारधर्मिणम् ॥१॥

शब्दार्थ

परमप्पाणं—परमात्मा; वड्ढमाणं—वर्द्धमान; जिणं—जिन * को; तिसुद्धेण—मन, वचन और काय की शुद्धिपूर्वक, णमिऊण—नमस्कार कर, सायारणयार—गृहस्थ और मुनि; धम्मीणं—धर्मयुक्त; रयणसारं—रत्नसार (ग्रन्थ) को; वोच्छामि—कहूँगा।

* कर्म-शत्रुओं को जीत कर जो सर्वज्ञ हो गए हैं, ऐसे जिन को, वीतराग को—

रत्नसार

भावार्थ—मैं परमात्मा (तीर्थंकर) वर्द्धमान जिन को मन, वचन और काय की शुद्धिपूर्वक नमस्कार कर गृहस्थ और मुनि के धर्म से युक्त रत्नसार ग्रन्थ को कहूँगा।

१. 'तिसेन' 'ग'। २. 'वोच्छामि' 'न' 'व'। ३. 'धम्माणं' 'अ' 'ग' 'व'।
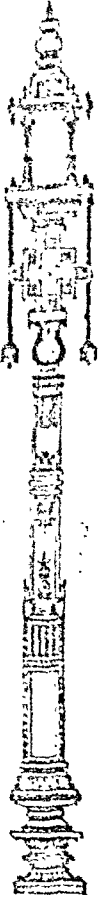
पुव्वं जिणेहिं[1] भणियं[2] जहट्ठियं गणहरेहिं[3] वित्थरियं ।
पुव्वाइरियक्कमजं[4] तं बोल्लइ[5] सो हु सद्दिट्ठी[6] ।।२।।

पूर्वं जिनैः भणितं यथास्थितं गणधरैः विस्तरितं ।
पूर्वाचार्यक्रमजं तत् कथयति सः खलु सद्दृष्टिः ।।२।।

शब्दार्थ

(जो व्यक्ति) पुव्वं—पूर्व काल में; जिणेहिं—सर्वज्ञ के द्वारा; भणियं—कहे हुए; गणहरेहिं—गणधरों से; वित्थरियं—विस्तृत (तथा); पुव्वाइरियक्कमजं—पूर्वाचार्यों के क्रम से (प्राप्त); जहट्ठियं—ज्यों का त्यों; तं—उस वचन को; बोल्लइ—कहता है; सो—वह; हु—निश्चय से; सद्दिट्ठी—सम्यग्दृष्टि (है)।

पूर्वाचार्य-क्रमप्राप्त

भावार्थ—जो व्यक्ति निश्चय से अतीत काल में सर्वज्ञ के द्वारा कहे हुए तथा गणधरों से विस्तृत एवं पूर्वाचार्यों के क्रम से प्राप्त वचनों को ज्यों का त्यों कहता है,वह सम्यग्दृष्टि है।

१. °जिणेहि 'त' 'म' 'व'। २. °जहसिट्ठं 'अ' °हियट्ठियं 'प'। ३. °गणहरेहि 'म' 'व'। ४. °पुव्वायरियकमेणं 'अ', 'ग', 'घ', 'य', 'व'। °पुव्वाइरियकमज्जं 'म' 'व'। ५. °जं तं बोलेइ 'ग' 'व', °बोल्लए 'म'। ६. °सद्दिट्ठी 'व'।
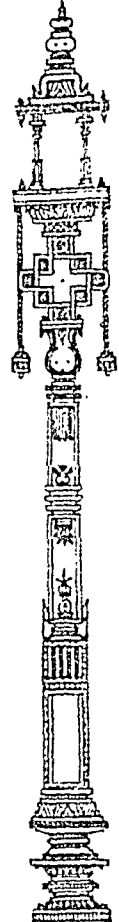
मदि-सुद-णाण-बलेण[1] दु सच्छंदं बोल्लइ[2] जिणुद्दिट्ठं[3] ।
जो सो होइ कुदिट्ठी ण होइ जिणमग्गलग्गरवो[4] ॥३॥

मतिश्रुतज्ञानबलेन तु स्वच्छन्दं कथयति जिनोद्दिष्टमिति ।
यः स भवति कुदृष्टिर्न भवति जिनमार्गलग्नरवः ॥३॥

शब्दार्थ

इदि—इस प्रकार; जिणुद्दिट्ठं—सर्वज्ञ कथित (तत्त्व को); जो—जो व्यक्ति; मदिसुदणाणबलेण—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के बल से; सच्छंदं—स्वेच्छानुसार; बोल्लइ—बोलता है (और); जिणमग्गलग्गरवो—सर्वज्ञ के मार्ग में सम्यक् वाणी (का वक्ता); ण होइ—नहीं होता है; सो—वह; दु—तो; कुदिट्ठी—मिथ्यादृष्टि; होइ—होता है ।

मिथ्यादृष्टि

भावार्थ—सर्वज्ञ के द्वारा कहे गए तत्त्व को जो व्यक्ति मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के बल से अपनी इच्छानुसार बोलता है, वह जिनवाणी का प्रवचनकार नहीं है; किन्तु मिथ्यादृष्टि (अज्ञानी) है ।

---

१. 'मदिसुदणाणबलेण' 'अ' 'क' । २. 'बोलए' 'अ' 'ग' 'न' 'प' 'क' 'व' । ३. 'जिणुद्दिट्ठं' 'अ' 'ग' 'प' 'क' 'व' । ४. 'जिणमग्गलग्गरओ' 'अ' 'भ' 'प' 'क' ।
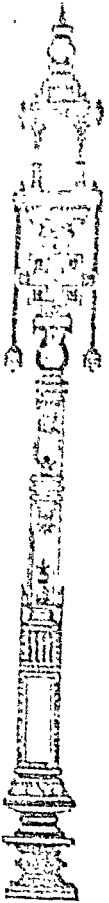
सम्मत्तरयणसारं मोक्खमहारुक्खमूलमिदि भणियं ।
तं जाणिज्जइ[1] णिच्छयववहारसरूवदो भेयं[2] ॥४॥

सम्यक्त्वरत्नसारं मोक्षमहावृक्षमूलमिति भणितं ।
तज्ज्ञायते निश्चयव्यवहारस्वरूपतो भेदं ॥४॥

शब्दार्थ

सम्मत्तरयणसारं—सम्यक्त्व रत्नों में श्रेष्ठ (है) (इसे); मोक्खमहारुक्खमूलं—मोक्ष रूपी महान् वृक्ष का मूल; इदि—इस प्रकार; भणियं—कहा गया है (और); तं—वह; णिच्छयववहारसरूवदो—निश्चय, व्यवहार के स्वरूप से; भेयं—भेद (वाला); जाणिज्जइ—जाना जाता है।

सम्यग्दर्शन

भावार्थ—संसार में सम्यक्त्व सभी रत्नों में श्रेष्ठ है। इसे मोक्षरूपी महान् वृक्ष का मूल कहा गया है। निश्चय और व्यवहार नय (परमार्थ और लौकिक दृष्टि) से इसका भेद किया जाता है।

१. जाणिज्जउ 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'म'। २. भेयं 'व' को छोड़कर सभी प्रतियों में। भेदो 'व'।
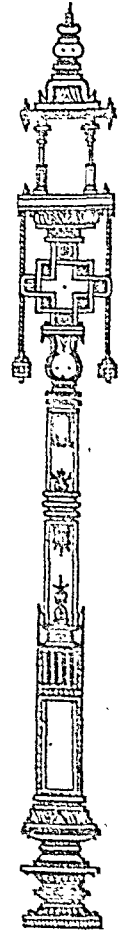
भयविसण[1] मलविवज्जिय संसारसरीरभोगणिव्विण्णो ।
अट्ठगुणंगसमग्गो[2] दंसणसुद्धो हु[3] पंचगुरुभत्तो ॥५॥

भयव्यसनमलविवर्जितः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः ।
अष्टगुणाङ्गसमग्रः दर्शनशुद्धः खलु पंचगुरुभक्तः ॥५॥

शब्दार्थ

दंसणसुद्धो—सम्यग्दर्शन से शुद्ध (व्यक्ति); हु—ही; भयविसणमल-विवज्जिय—भय (सात प्रकार के भय), व्यसन (सात प्रकार के व्यसन) (और) दोष (पच्चीस प्रकार के मलों) से रहित (होता है); संसारसरीरभोग-णिव्विण्णो—संसार, शरीर और भोगों से विरक्त; अट्ठगुणंगसमग्गो—अष्ट गुणों से परिपूर्ण (सम्यग्दर्शन के निःशंकितादि अष्टांग गुणों से युक्त) और; पंचगुरुभत्तो—पंचपरमेष्ठी-गुरु का भक्त (होता है)।

सम्यग्दर्शन के प्राप्त होने पर

भावार्थ—सम्यग्दर्शन से शुद्ध होने पर व्यक्ति सात प्रकार के भय (इहलोक, परलोक, [illegible], मरण, असंयम, अत्राण, आकस्मिक); सात प्रकार के व्यसन और पच्चीस प्रकार के दोषों से रहित हो जाता है तथा संसार, शरीर और भोगों में उसकी आसक्ति [illegible] सम्यग्दर्शन के निःशंकितादि अष्ट गुणों से युक्त तथा पंचपरमेष्ठी [illegible] होता है।

[illegible] । [illegible] 'अ'। २. अट्ठगुणग्गसमग्गो 'अ' 'ब' [illegible]

णियसुद्धप्पणुरत्तो बहिरप्पावत्थ[1]वज्जिओ[2] णाणी ।
जिणमुणिधम्मं मण्णइ गयदुक्खो[3] होइ सद्दिट्ठी[4] ।।६।।
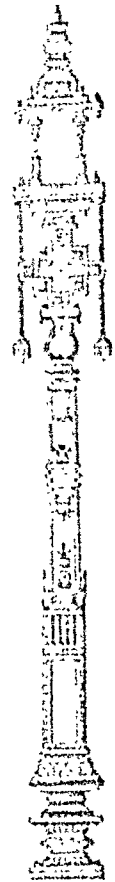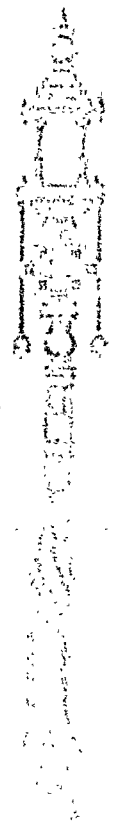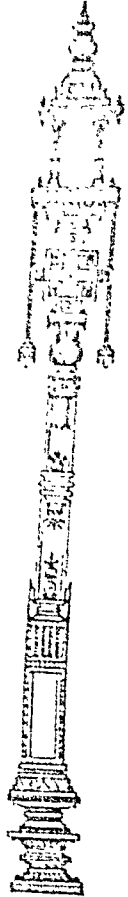
निजशुद्धात्मानुरक्तः वहिरात्मावस्थावर्जितो ज्ञानी ।
जिनमुनिधर्मं मन्यते गतदुःखो भवति सद्दृष्टिः ।।६।।

शब्दार्थ

णाणी—ज्ञानी; **णियसुद्धप्पणुरत्तो**—निज शुद्ध आत्मा में अनुरक्त; **बहिरप्पावत्थवज्जिओ**—बहिरात्मा (बहिर्मुखी) अवस्था से रहित; **जिणमुणिधम्मं**—वीतराग-मुनि-धर्म को; **मण्णइ**—मानता है (और); **गयदुक्खो**—दुःखों से रहित; **सद्दिट्ठी**—सम्यग्दृष्टि (अन्तर्मुखी); **होइ**—होता है ।

सम्यग्दृष्टि

भावार्थ—ज्ञानी स्वसंवेद्य परिणति में लीन होकर बहिर्मुखी प्रवृत्तियों से हट जाता है और वीतराग मुनिधर्म (वीतराग चारित्र) को मानने लगता है । इस प्रकार वह सम्यग्दृष्टि दुःखों से रहित होता है ।

१. °बहिरप्पावत्त 'म' । २. °वज्जियो 'म' 'व' । ३. °गइदुक्खी 'अ' 'ग' 'घ' 'ब' 'व' । ४. °सुदिट्ठी 'अ' ।
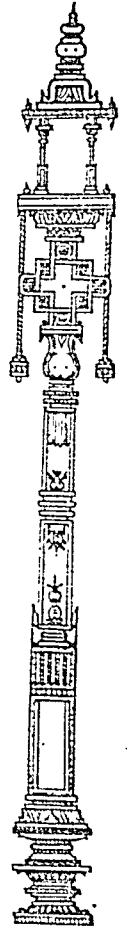
मयमूढमणायदणं[1] संकाइवसणभयमईयारं[2] ।
जेसिं चउदालेदे[3] ण संति ते होंति[4] सद्दिट्ठी ॥७॥

मदमूढमनायतनं शंकादिव्यसनभयमतीचारं ।
येषां चतुश्चत्वारिंशत् एतानि न संति ते भवंति सद्दृष्टयः ॥७॥

शब्दार्थ

जेसिं—जिनके; मयमूढमणायदणं—मद (आठ मद), लोकरूढि (तीन मूढ़ता), कुसंगति (छह अनायतन); संकाइवसणभयमईयारं—शंकादिक (आठ दोष), कुटेव (सात व्यसन), भय (सात भय) (और) अतिक्रमण-उल्लंघन (पांच अतिचार) (ये); चउदालेदे—चवालीस (दूषण); ण—नहीं; संति—होते हैं, ते—वे; सद्दिट्ठी—सम्यग्दृष्टि; होंति—होते हैं ।

सम्यग्दृष्टि कौन ?

भावार्थ—जिन के आठ प्रकार के मद (अहंकार), तीन मूढ़ताएं (लोकरूढ़ियां), छह अनायतन (कुसंगति), शंकादिक आठ दोष, सात व्यसन (कुटेव), सात तरह के भय और नियम-व्रत आदि के उल्लंघनस्वरूप पांच प्रकार के अतिचार मिलाकर चवालीस दूषण नहीं होते हैं, वे सम्यग्दृष्टि होते हैं ।

१ 'मयमूढमणायतणं' 'ग' 'फ' 'ब' । २ 'संकाइवसणभयमइयारं' 'अ' 'ग' 'घ' 'प' 'फ' ।
३ 'चउआलेदे' 'ग' 'घ' 'ब' । ४ 'हुंति' 'ग' ।
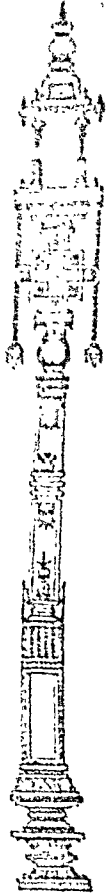
देवगुरुसमयभत्ता संसारसरीरभोगपरिचत्ता ।
रयणत्तयसंजुत्ता ते मणुया[1] सिवसुहं पत्ता ॥८॥

देवगुरुसमयभक्ताः संसारशरीरभोगपरित्यक्ताः ।
रत्नत्रयसंयुक्तास्ते मनुष्याः शिवसुखं प्राप्ताः ॥८॥

शब्दार्थ

देवगुरुसमयभत्ता—देव, गुरु (और) शास्त्र (के) भक्त; **संसारसरीरभोगपरिचत्ता**—संसार, शरीर (और) भोग (के) परित्यागी; **रयणत्तय-संजुत्ता**—रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र) (से) युक्त (होते हैं); **ते**—वे; **मणुया**—मनुष्य लोग; **सिवसुहं**—मोक्षसुख को; **पत्ता**—प्राप्त करते हैं) ।

रत्नत्रय से शिवसुख

भावार्थ—जो मनुष्य देव, गुरु और शास्त्र के भक्त हैं तथा संसार, शरीर और भोग में अनासक्त हैं, वे रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) से युक्त होकर (भेद और अभेद रत्नत्रय की संविति से संयुक्त हो) मोक्ष सुख को प्राप्त करते हैं ।

१ °मणया 'अ' 'प' 'फ' । २ °मणुवा 'च' ।

दाणं पूया[1] सीलं उववासं बहुविहंपि खवणं पि ।
सम्मजुदं मोक्खसुहं सम्मविणा दीहसंसारं[2] ॥२॥
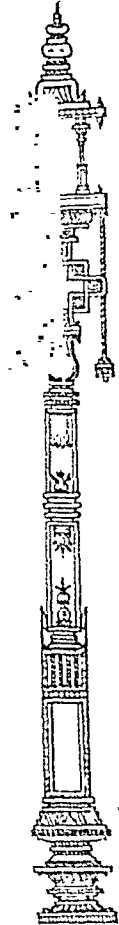
दानं पूजा शीलं उपवासः बहुविधमपि क्षपणमपि ।
सम्यक्त्वयुतं मोक्षसुखं सम्यक्त्वं विना दीर्घसंसारः ॥२॥

शब्दार्थ

सम्मजुदं—सम्यग्दर्शन से युक्त; दाणं—दान, पूया—पूजा; सीलं—शील; उववासं—उपवास; बहुविहं—बहुत प्रकार के (व्रत) (तथा); पि—भी; खवणं—कर्मक्षय के कारण; पि—भी; मोक्खसुहं—मोक्षसुख (के हेतु है); सम्मविणा—सम्यग्दर्शन के बिना; दीहसंसारं—दीर्घ संसार (होता है)।

इस जीव को

भावार्थ—सम्यग्दर्शन से युक्त मनुष्य के लिए दान, पूजा, शील, उपवास तथा अनेक प्रकार के व्रत कर्मक्षय के कारण तथा मोक्षसुख के हेतु हैं। सम्यग्दर्शन (विवेक की जागृति) के बिना ये ही दीर्घ संसार के कारण होते हैं।

१. 'पुज्जा' 'प'। 'पूजा' 'ब' 'स' 'ग'। २. 'रो' 'प' 'क'। 'रा' 'प' 'व'।

दाणं पूया[1] मुक्खं सावयधम्मे[2] ण सावया[3] तेण विणा ।
झाणाज्झयणं[4] मुक्खं जइ-धम्मे तं विणा तहा[5] सो वि ॥१०॥

दानं पूजा मुख्यः श्रावकधर्मे न श्रावकाः तेन विना ।
ध्यानाध्ययनं मुख्यो यतिधर्मे तं विना तथा सोऽपि ॥१०॥

शब्दार्थ

सावयधम्मे—श्रावकधर्म में; **दाणं**—दान; **पूया**—पूजा; **मुक्खं**—मुख्य (है); **तेण**—उसके; **विणा**—विना; **सावया**—श्रावक (सद्गृहस्थ); **ण**—नहीं (होता है); **जइ-धम्मे**—यति (मुनि) धर्म (में); **झाणाज्झयणं**—ध्यान-अध्ययन; **मुक्खं**—मुख्य (है); **तं**—उस (ध्यानाध्ययन) (के); **विना**—विना; **सो**—वह (मुनिधर्म); **वि**—भी; **तहा**—उसी प्रकार (व्यर्थ है) ।

श्रावक-धर्म

भावार्थ—सद्गृहस्थ (श्रावक) के लिए धार्मिक क्रियाओं में दान, पूजा आदि (छह आवश्यक कार्य: देवपूजा, उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान) मुख्य कार्य हैं। इनके विना कोई भी मनुष्य सद्गृहस्थ नहीं वनता। मुनिधर्म में ध्यान और अध्ययन करना मुख्य है। इनके विना मुनिधर्म का पालन करना व्यर्थ है।

---

१ °पुज्जा 'अ' 'फ'। °पूजा 'ब' 'म' 'व'। २ °सावयधम्मं 'अ'। ३ °सावगो 'अ' 'प' 'फ' 'म' 'व'। ४ °ज्ञाणदंसणं 'व'। ५ °ते हु 'म'।

दाणु ण धम्मु ण चागु ण भोगु ण बहिरप्पजो[1] पयंगो सो ।
लोहकसायग्गिमुहे पडियो[2] मरियो ण संदेहो ॥११॥

दानं न धर्मः न त्यागो न भोगो न बहिरात्मज्ञो यः पतंगः सः ।
लोभकषायाग्निमुखे पतितः मृतो न सन्देहः ॥११॥

शब्दार्थ

(जो) दाणु ण—दान नहीं; धम्मु ण—धर्म नहीं; चागु ण—त्याग नहीं; भोगु ण—(न्यायपूर्वक) भोग नहीं (करता); सो—वह; बहिरप्पजो—बहिरात्मज्ञ; पयंगो—पतंगा (है, जो); लोहकसायग्गिमुहे—लोभ कषाय रूप अग्नि के मुख में; पडियो—पड़ा हुआ; मरियो—मर गया है (इसमें); संदेहो—सन्देह; ण—नहीं (है)।

बहिरात्मज्ञ

भावार्थ—जो गृहस्थ दान नहीं देता है, धर्म तथा त्याग नहीं करता है और न्यायपूर्वक भोग नहीं भोगता है, वह भौतिक पदार्थों को आत्मा समझने वाला 'बहिरात्मज्ञ' पतंगे के समान है, जो लोभरूप अग्नि (रूप, चमक-दमक) के मुंह में पड़कर मर जाता है। इसमें सन्देह नहीं है।

---

१ 'बहिरप्पगो' 'अ' 'क'। २ 'पडिया' 'अ'।

जिणपूया[1] मुणिदाणं करेइ जो देइ सत्तिरूवेण ।
सम्माइट्ठी सावयधम्मी[2] सो मोक्खमग्गरओ[3] ॥१२॥

जिनपूजां मुनिदानं करोति यो ददाति शक्तिरूपेण ।
सम्यग्दृष्टिः श्रावकधर्मी स भवति मोक्षमार्गरतः ॥१२॥

शब्दार्थ

जो—जो; सत्तिरूवेण—यथाशक्ति; जिणपूया—जिन-पूजा; करेइ—करता है; मुणिदाणं—मुनियों को दान; देइ—देता है; सो—वह; मोक्खमग्गरओ—मोक्षमार्ग में रत; धम्मी—धर्मात्मा; सम्माइट्ठी—सम्यग्दृष्टि; सावय—श्रावक (होता है)।

धर्मात्मा

भावार्थ—जो शक्ति के अनुसार जिनदेव की पूजा करता है और मुनियों को दान देता है, वह मोक्षमार्ग में रत धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि श्रावक होता है।

१ °जिणपूजा 'म' 'व'। २ °धम्मि 'ग' 'व'। ३ °रवो 'व' 'म'।
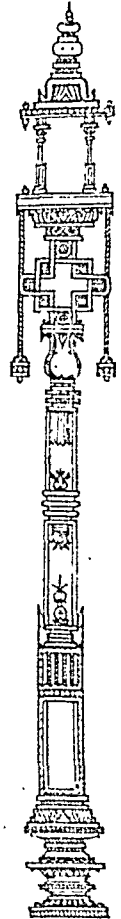
पूयफलेण[1] तिलोए सुरपुज्जो[3] हवेइ सुद्धमणो ।
दाणफलेण तिलोए[2] सारसुहं भुंजदे णियदं ।।१३।।

पूजाफलेन त्रिलोके सुरपूज्यो भवति शुद्धमनः ।
दानफलेन त्रिलोके सारसुखं भुंक्ते नियतं ।।१३।।

शब्दार्थ

सुद्धमणो—शुद्ध मन (से) (की गई); पूयफलेण—पूजा के फल से; तिलोए—तीन लोक में; सुरपुज्ज—देवताओं से पूज्य; हवेइ—होता है (और); दाणफलेण—दान के फल से; तिलोए—तीन लोक में; णियदं—निश्चित; सारसुहं—श्रेष्ठ सुख को; भुंजदे—भोगता है।

उपासना का फल

भावार्थ—शुद्ध मन से की जाने वाली पूजा के फल से जीव तीनों लोकों में देवताओं से पूज्य होता है और दान के फल से तीनों लोकों में निश्चित श्रेष्ठ सुख भोगता है।

१ 'पूजाफलेन' 'प' 'व'। 'पूजा' 'अ' 'प' 'ग' 'फ' 'म' 'व'। २ 'तिल्लोगे' 'अ' 'प' 'फ' 'व'। ३ 'तियसेहिंसपुज्जो' 'म'। 'सेरिहिंसपुज्जा' 'व'।

इह णियसुवित्तबीयं[1] जो ववइ जिणुत्तसत्तखेत्तेसु ।
सो तिहुवणरज्जफलं भुंजदि[2] कल्लाणपंचफलं ॥१६॥

इह निजसुवित्तवीजं यो वपति जिनोक्तसप्तक्षेत्रेषु ।
स त्रिभुवनराज्यफलं भुनक्ति कल्याणपंचफलं ॥१६॥

शब्दार्थ

इह—इस (लोक में); जो—जो (व्यक्ति); णिय—निज; सुवित्तबीयं—श्रेष्ठ धनरूप वीज को; जिणुत्त—जिन (देव) के द्वारा कथित; सत्तखेत्तेसु—सप्त क्षेत्रों में; ववइ—वोता है; सो—वह; तिहुवण—तीन लोक (के); रज्जफलं—राज्यफल (एवं); कल्लाणपंचफलं—पंचकल्याणक रूप फल को; भुंजदि—भोगता है ।

धन का सदुपयोग

भावार्थ—इस संसार में जो भव्यजीव न्यायपूर्वक अर्जित अपने श्रेष्ठ धनरूप वीज को जिनदेव के द्वारा कहे गए सात क्षेत्रों (जिन पूजा, मन्दिर आदि की प्रतिष्ठा, तीर्थयात्रा, मुनि आदि पात्रों को दान देना, सहधर्मियों को दान देना, भूखे-प्यासे तथा दुःखी जीवों को दान देना, अपने कुल व परिवार वालों को सर्वस्व दान करना) में बोता है, वह तीनों लोकों के राज्य के फल सुख को प्राप्त करता है ।

१ °णियमुचित्तवीयं 'फ' । २ °भुंजइ 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'म' 'च' ।
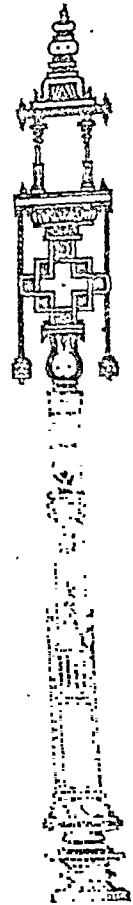
खेत्तविसेसे काले ववियं[1] सुबीयं फलं जहा विउलं ।
होइ तहा तं जाणहि[2] पत्तविसेसेसु दाणफलं ॥१७॥

क्षेत्रविशेषे काले उप्तं सुबीजं फलं यथा विपुलं ।
भवति तथा तज्जानीहि पात्रविशेषेषु दानफलं ॥१७॥

शब्दार्थ

जहा—जैसे; काले—(उचित) समय में; खेत्तविसेसे—उत्तम क्षेत्र में; ववियं—बोए गए; सुबीयं—उत्तम बीज (का); विउलं—विपुल; फलं—फल; होइ—होता है, तहा—वैसे (ही); पत्तविसेसेसु—उत्तम पात्रों में (दिए गए); दाणफलं—दान का फल; जाणहि—जानो ।

दान का फल कब ?

भावार्थ—जिस प्रकार उचित समय में उत्तम क्षेत्र में बोए गए अच्छे बीज का बहुत अच्छा फल मिलता है, उसी प्रकार उत्तम पात्र (मुनि) में दिए गए दान का फल भी उत्तम होता है।

१ 'वविय' म'। २ 'जाणउ' अ' 'क' 'ब'। 'जाणओ' म'।
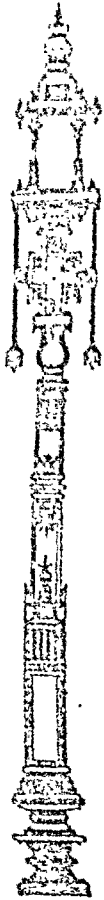
माद्दु-पिदु-पुत्त-मित्तं कलत्त-धणधण्ण-वत्थु-वाहणं-विहवं[1]।
संसारसारसोक्खं सव्वं[2] जाणउ सुपत्तदाणफलं ॥१८॥

मातृ-पितृ-पुत्र-मित्रं कलत्रधनधान्यवास्तुवाहनविभवं ।
संसारसारसौख्यं सर्व जानातु सुपात्रदानफलं ॥१८॥

शब्दार्थ

मादु—माता; पिदु—पिता; मित्तं—मित्र; कलत्त—स्त्री; धणधण्ण—धन-धान्य; वत्थु—वास्तु (घर); वाहणं—वाहन; विहवं—वैभव (और); संसारसारसोक्खं—संसार का उत्तम सुख; सव्वं—सब; सुपत्त-दाणफलं—सुपात्र-दान का फल; जाणउ—जानो।

दान की महिमा

भावार्थ—माता-पिता, मित्र, पत्नी, धन-धान्य, घर, वाहन (सवारी) आदि वैभव और संसार का उत्तम सुख, ये सभी सुपात्र-दान के फल से प्राप्त होते हैं।

१ °विमयं 'ग'। २ °सत्थं 'प'। °सव्वं 'व'।
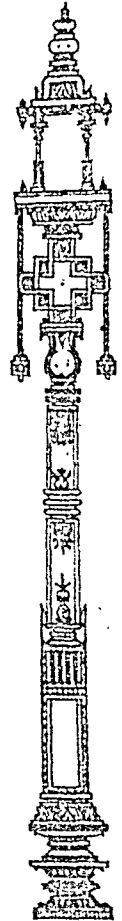
सत्तंगरज्ज-णव-णिहि-भंडार-छडंग[1]बल-चउद्दह[2]रयणं ।
छण्णवदि[3]सहस्सेत्थि[4]-विहवं जाणउ[5] सुपत्तदाणफलं ॥१३॥

सप्तांगराज्यनवनिधि-भण्डारषडङ्गबलचतुर्दशरत्नानि ।
षण्णवतिसहस्रस्त्रीविभवो जानातु सुपात्रदानफलं ॥१३॥

शब्दार्थ

सत्तंगरज्ज—सप्तांग राज्य; णवणिहि—नव निधि (तथा); भंडार—भण्डार; छडंगबल—छह अंगों से युक्त सेना; चउद्दहरयणं—चौदह रत्न (तथा); छण्णवदिसहस्सेत्थि—छियानवे हजार स्त्री (रूप); विहवं—वैभव (को); सुपत्तदाणफलं—सुपात्र दान का फल; जाणउ—जानो।

और

भावार्थ——उत्तम पात्र को दान देने से राजा, मन्त्री, मित्र, कोष, देश, किला, सेना (सप्तांग राज्य का पद), नव निधि (काल, महाकाल, पांडु, मानव, शंख, पद्म, नैसर्प, पिंगल, नाना रत्न), छह अंगों से युक्त सेना (हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल, आदि), चौदह रत्न (पवनंजय अश्व, विजयगिरि हस्ती, भद्रमुख गृहपति, कामवृष्टि, अयोध्य सेनापति, सुभद्रा पत्नी, बुद्धिसमुद्र पुरोहित ये सात जीवरत्न और सात अजीव रत्न : छत्र, तलवार, दण्ड, चक्र, काकिणी रत्न, चिन्तामणि और चर्मरत्न) एवं छियानवे हजार स्त्रियों के वैभव का फल प्राप्त होता है।

१ [illegible]। २ 'चोद्दह' [illegible]। ३ [illegible]।
४ [illegible]। ५ [illegible]।
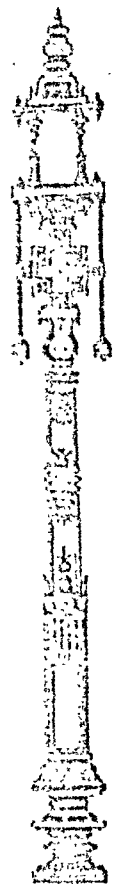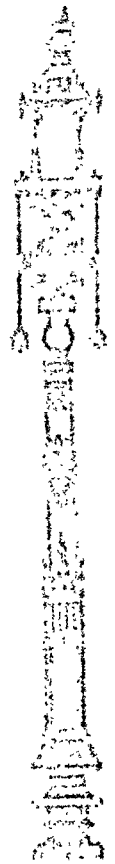
सुकुल-सुरूव-सुलक्खण-सुमइ-सुसिक्खा-सुसील-चारित्तं[1] ।
सुहलेस्सं सुहणामं सुहसादं[2] सुपत्तदाणफलं ॥२०॥

सुकुलं सुरूपं सुलक्षणं सुमतिः सुशिक्षा सुशीलं चारित्रम् ।
शुभलश्या शुभनामः शुभसातं सुपात्रदानफलं ॥२०॥

शब्दार्थ

सुकुल—उत्तम कुल; सुरूव—उत्तम रूप; सुलक्खण—उत्तम लक्षण; सुमइ—उत्तम बुद्धि; सुसिक्खा—उत्तम शिक्षा; सुसील—उत्तम प्रकृति; चारित्तं—(उत्तम) चारित्र; सुहलेस्सं—शुभ लेश्या; सुहणामं—शुभ नाम (कर्म) (और); सुहसादं—शुभ सुख; सुपत्तदाणफलं—सुपात्रदान के फल (हैं) ।

और भी

भावार्थ—अच्छे कुल, अच्छे रूप, अच्छे लक्षण, अच्छी बुद्धि, अच्छी शिक्षा, अच्छी प्रकृति, अच्छे गुण, अच्छा चारित्र, अच्छी प्रवृत्ति, परिणामों की विचित्रता और अच्छा सुख, ये सभी सुपात्रदान के फल हैं ।

---

१ °सुसील सुगुण सुचरित्तं 'अ' 'क' 'ग' 'प' 'फ' 'ब' 'म' 'य' 'व' । २ °सयलक्ख सुहाणुभवणं विहवं जाणउ 'म' 'व' ।
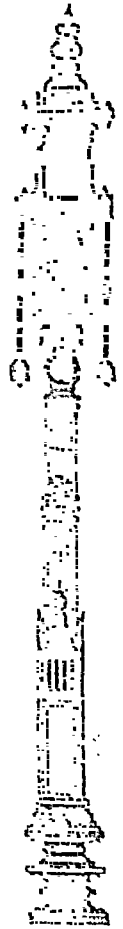
जो मुणिभुत्तविसेसं भुंजइ सो भुंजए[1] जिणुवदिट्ठं[2] ।
संसार-सार-सोक्खं कमसो णिव्वाणवरसोक्खं[3] ॥२१॥

यो मुनिभुक्तविशेषं भुंक्ते स भुंक्ते जिनोपदिष्टं ।
संसारसारसौख्यं क्रमशो निर्वाणवरसौख्यं ॥२१॥

शब्दार्थ

जो—जो (व्यक्ति); मुणिभुत्तविसेसं—(उत्तम पात्र) मुनि के विशेष (रूप से) भोजन कर लेने पर; भुंजइ—भोजन करता है; सो—वह; संसारसारसोक्खं—संसार के अच्छे सुख; कमसो—(और) क्रमशः; णिव्वाणवरसोक्खं—मोक्ष के उत्तम सुख को; भुंजए—भोगता है (वह); जिणुवदिट्ठं—जिनेन्द्र देव का उपदेश है।

आहारदान की महिमा

भावार्थ—जो व्यक्ति मुनि के भलीभांति आहार कर लेने के बाद स्वयं भोजन करता है, वह संसार के अच्छे सुख और क्रम से मोक्ष के उत्तम सुख को भी भोगता है, ऐसा जिनेन्द्र देव का उपदेश है।

---

१ 'भुंजदि' 'म' 'ब'। २ 'भुंजते' 'ब'। ३ 'जिणुवदिट्ठं' 'ब'। ३ 'सुक्खं' 'ब' 'क'।
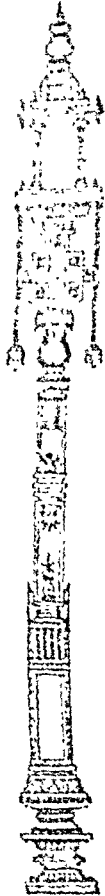
सीदुण्ह-वाउपिउलं[1] सिलेसिमं तह परीसहव्वाहिं[2] ।
कायकिलेसुववासं जाणिज्जे[3] दिण्णए दाणं ॥२२॥

शीतोष्णवातपित्तलं श्लेष्मलं तथा परीषहव्याधिं ।
कायक्लेशं उपवासं ज्ञात्वा दीयते दानं ॥२२॥

शब्दार्थ

सीदुण्ह—शीत-उष्ण; वाउपिउलं—वात-पित्त; सिलेसिमं—श्लेष्म (कफ) [प्रकृतिवाले]; तह—तथा परीसहव्वाहिं—परीषह-व्याधि; कायकिलेस—कायक्लेश (और); उववासं—उपवास को; जाणिज्जे—जान (कर); दाणं—दान; दिण्णए—दिया जाता है।

कैसे दान देवें ?

भावार्थ—गृहस्थ को मुनि की वात, पित्त, कफ प्रकृति तथा शान्त भाव से सहन करने वाले उनके दुःख, रोग, देह-पीड़ा और उपवास (आदि) को समझ कर दान देना चाहिए।

१ °वायविउलं 'अ' 'फ'। °वायुपिउलं 'ग' 'व'। °वायपिउलं 'म'। २ °परीसमव्वाहिं 'म' 'व'। °परिस्समं 'अ' 'ग' 'घ' 'फ'। ३ °जाणिज्जा 'अ' 'ग' 'प' 'फ' 'म'।
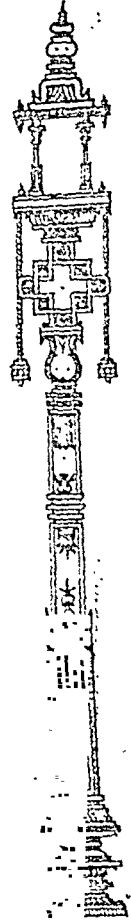
हिय-मिय-मण्णं-पाणं णिरवज्जोसहिं[1] णिराउलं ठाणं ।
सयणासणमुवयरणं जाणिज्जा[2] देइ मोक्खरओ[3] ॥२३॥

हितमितमन्नं-पानं निरवद्यौषधिं निराकुलं स्थानम् ।
शयनासनमुपकरणं ज्ञात्वा ददाति मोक्षरतः ॥२३॥

शब्दार्थ

मोक्खरओ—मोक्ष (मार्ग) में रत; हिय-मियं—हित-मित; अण्णं-पाणं—अन्न-पान; णिरवज्जोसहिं—निर्दोष औषधि; णिराउलं—निराकुल; ठाणं—स्थान; सयणासणमुवयरणं—शयन, आसन, उपकरण को जाणिज्जा—समझ कर; देइ—देता है।

तथा

भावार्थ—मोक्षमार्ग में स्थित गृहस्थ उत्तम मुनि के लिए हितकर परिमित अन्न-पान, निर्दोष औषध, निराकुल स्थान, शयन, आसन, उपकरण (आदि) के औचित्य को समझ कर देता है।

१ °णिरवज्जोसहि 'स' 'प'। २ °जाणिज्जउ 'अ' 'क'। ३ °मोक्खमग्गरओ 'अ' 'ब'।
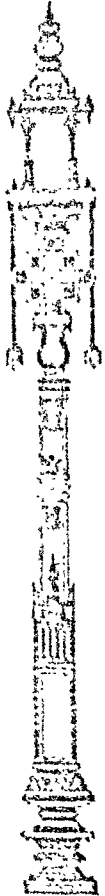
अणयाराणं वेज्जावच्चं कुज्जा जहेह[1] जाणिज्जा ।
गब्भब्भमेव[2] मादा व्व[3] णिच्चं तहा णिरालसया ।।२४।।

अनगाराणां वैयावृत्यं कुर्यात् यथेह ज्ञात्वा ।
गर्भार्भकमेव माता इव नित्यं तथा निरालसका ।।२४।।

शब्दार्थ

इह—यहाँ; अणयाराणां—मुनियों की; वेज्जावच्चं—सेवा (को); जाणिज्जा—जान कर; तहा—वैसे ही (उन की सेवा); कुज्जा—करनी चाहिए; जहा—जैसे; मादा—माता; गब्भब्भमेव—गर्भस्थ शिशु को (पालती है); व्व—(उसके) समान; णिच्चं—नित्य; णिरालसया—आलस्य रहित होकर।

सेवा

भावार्थ—जैसे माता-पिता गर्भस्थ शिशु को सावधानी पूर्वक पालते हैं, वैसे ही मुनियों की सेवा इस लोक में सावधान होकर करनी चाहिए ।

---

१ °जहोह 'म' 'व' । °जहेह 'अ' 'ग' 'घ' 'ग' 'फ' 'व' । २ °गब्भमवेव 'म' 'व' । ३ °पि तुव्व 'म' 'व' ।

जसकित्ति[1]पुण्णलाहे देइ सुबहुगंपि जत्थतत्थेव[2] ।
सम्माइ[3]सुगुणभायण पत्तविसेसं ण जाणंति ।।२६।।

यशःकीर्तिपुण्यलाभाय ददाति सुबहुकमपि यत्र तत्रैव ।
सम्यक्त्वादिसुगुणभाजनपात्रविशेषं न जानन्ति ।।२६।।

शब्दार्थ

(लोभी पुरुष) **जसकित्तिपुण्णलाहे**—यश-कीर्ति (और) पुण्य-लाभ (के लिए); **जत्थतत्थेव**—जहां-तहां ही; **सुबहुगंपि**—अनेक प्रकार भी (दान); **देई**—देता है (वह); **सम्माइ**—सम्यक्त्वादि; **सुगुणभायण**—उत्तम गुणों से योग्य; **पत्तविसेसं**—उत्तम पात्र को; **ण**—नहीं; **जाणंति**—जानते (हैं)।

लोभ से नहीं

भावार्थ—लोभी पुरुष कीर्ति और पुण्य की चाहना से जिस-किसी को पात्र-अपात्र का विचार किए विना कई तरह से दान देते हैं, किन्तु सम्यक्त्व, ज्ञानादि गुणों से युक्त उत्तम पात्र को वे नहीं जानते ।

1. °कट्टि 'म' 'व' । २. °जत्ततत्तेव 'म' 'व' । ३. °संसार 'व' 'प' ।

दाणीणं दालिद्दं[1] लोहीणं किं हवेइ[2] महसिरियं[3] ।
उहयाणं पुव्वज्जियकम्मफलं जाव[4] होइ थिरं ॥२८॥

दानिनां दारिद्रयं लोभिनां किं भवति महैश्वर्यं ।
उभयोः पूर्वार्जित कर्मफलं यावत् भवति स्थिरं ॥२८॥

शब्दार्थ

दाणीणं—दानी (पुरुषों) के; दालिद्दं—दारिद्रय (निर्धनता) (और); लोहीणं—लोभियों के; महसिरियं—महान् ऐश्वर्य; किं—क्यों; हवेइ—होता है? जाव—जब तक; उहयाणं—(उन) दोनों के; पुव्वज्जिय—पूर्वार्जित (पूर्व जन्म में किये हुए); कम्मफलं—कर्मों का फल; थिरं—स्थिर; होइ—होता है।

वर्तमान : पूर्व कर्म का फल

भावार्थ—दानी पुरुष निर्धन क्यों देखे जाते हैं और लोभियों के महान् ऐश्वर्य क्यों होता है? इस विचित्रता का कारण पूर्व जन्म में किये हुए कर्मों का फल है। जब तक पूर्व जन्म के अच्छे-बुरे कर्म अपना फल देकर बिखर नहीं जाते, तब तक अच्छे-बुरे कर्मों का फल बना रहता है।

१. °दारिद्दं 'घ' 'प'। °दरिद्दं 'म'। २. °हवे 'म' 'व'। ३. °महइसरियं 'अ' 'घ' 'प' 'फ'। °महासिरियं 'व'। °महाइसरीयं 'म'। °महाइसरियं 'व'। ४. °याव 'प'। °जाणं 'अ' 'फ'।
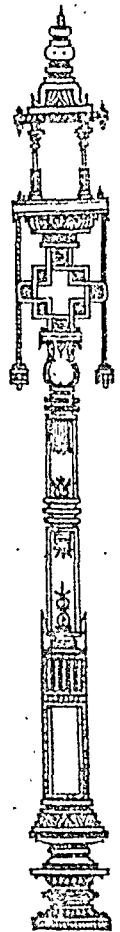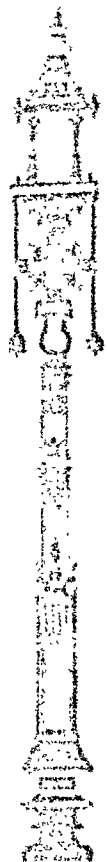
धण-धण्णाइ[1]समिद्धे[2] सुहं जहा होइ सव्वजीवाणं ।
मुणिदाणाइसमिद्धे[3] सुहं तहा तं विणा दुक्खं ॥२१॥

धन-धान्यादौ समृद्धे सुखं यथा भवति सर्वजीवानाम् ।
मुनिदानादौ समृद्धे सुखं तथा तं विना दुःखम् ॥२१॥

शब्दार्थ

जहा—जिस प्रकार; धण-धण्णाइ—धन-धान्यादि (की); समिद्धे—समृद्धि में; सव्वजीवाणं—सब जीवों के; सुहं—सुख; होइ—होता है; तहा—उसी प्रकार; मुणिदाणाइ—मुनिदानादि (की); समिद्धे—समृद्धि में; सुहं—सुख (होता है); तं—उसके; विणा—बिना; दुक्खं—दुःख (होता है)।

दान से लौकिक सुख

भावार्थ—जैसे कृषि आदि सांसारिक कार्यों को करने से व धन-धान्यादिक वैभव प्राप्त होने से सभी जीवों को सुख मिलता है, वैसे ही मुनि को दान देने से लौकिक सुख प्राप्त होता है। दान आदिक के बिना मनुष्य दुःखी होता है।

१. 'धणधण्णा' 'ब' 'ज'। २. 'समिद्धि' 'अ' 'क' 'ब' 'ज'। 'समिद्धो' 'म' 'घ'। ३. 'समिद्धो' 'ग' 'घ'। 'समिद्धे' 'अ' 'क' 'ख' 'ब' 'घ'।
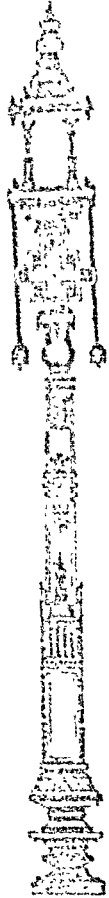
पुत्त-कलत्तविदूरो[1] दालिद्दो पंगु मूक[2]बहिरंधो ।
चांडालाइकुजाई[3] पूयादाणाइ[4] दव्वहरो ॥३२॥

पुत्रकलत्रविदूरो दरिद्रः पंगु मूकः बधिरोऽन्धः ।
चांडालादिकुजातिः पूजादानादिद्रव्यहरः ॥३२॥

शब्दार्थ

पूयादाणाइ—पूजा, दान, आदि (के); दव्वहरो—द्रव्य को हरने वाला; पुत्तकलत्तविदूरो—पुत्र-स्त्री रहित; दालिद्दो—दरिद्री; पंगु—लंगड़ा; मूक—गूंगा; बहिरंधो—बहरा, अंधा (और); चांडालाइ–चाण्डाल आदिक; कुजाई—कुजाति (में); (उत्पन्न होते हैं।)

और

भावार्थ—पूजा, दान आदि के द्रव्य को हरने वाला व्यक्ति पुत्र-स्त्री से हीन दरिद्री, गूंगा, बहरा, अन्धा और चाण्डाल आदि नीच जातियों में जन्म लेता है ।

---

१. °दाल्दि़ो 'म' 'व' । २. °मूग 'म' 'व' । ३. °कुजादो 'म' 'व' । ४. °पूजादाणाइ़ 'म' 'व' ।

पुत्त-कलत्तविदूरो[1] दालिद्दो पंगु मूक[2] बहिरंधो।
चांडालाइकुजाई[3] पूयादाणाइ[4] दव्वहरो ॥३२॥

पुत्रकलत्रविदूरो दरिद्रः पंगु मूकः वधिरोऽन्धः।
चांडालादिकुजातिः पूजादानादिद्रव्यहरः ॥३२॥

शब्दार्थ

पूयादाणाइ—पूजा, दान, आदि (के); **दव्वहरो**—द्रव्य को हरने वाला; **पुत्तकलत्तविदूरो**—पुत्र-स्त्री रहित; **दालिद्दो**—दरिद्री; **पंगु**—लंगड़ा; **मूक**—गूंगा; **बहिरंधो**—वहरा, अंधा (और); **चांडालाइ**—चाण्डाल आदिक; **कुजाई**—कुजाति (में); (उत्पन्न होते हैं।)

और

भावार्थ—पूजा, दान आदि के द्रव्य को हरने वाला व्यक्ति पुत्र-स्त्री से हीन दरिद्री, गूंगा, वहरा, अन्धा और चाण्डाल आदि नीच जातियों में जन्म लेता है।

---

१. °दारिद्दो 'म' 'व'। २. °मूग 'म' 'व'। ३. °कुजादो 'म' 'व'। ४. °पूजादाणाइ 'म' 'व'।

खयकुट्ठ[1]मूलसूलो लूय[2]भयंदरजलोयरक्खि[3]सिरो।
सीदुण्हवाहिराई[4] पूयादाणंतराय[5]कम्मफलं ।।३४।।

क्षयकुष्ठमूलशूललूता भगन्दरजलोदराक्षिशिर–
शीतोष्णव्याधिराजि: पूजादानान्तरायकर्मफलं ।।३४।।

शब्दार्थ

खयकुट्ठमूलसूलो—क्षय, कुष्ठ, मूल, शूल; लूयभयंदर—लूता (मकड़ी से होनेवाला रोग), भगंदर; जलोयरक्खिसिरो—जलोदर, नेत्र, शिर; सीदुण्ह—शीत, उष्ण; वाहिराई—व्याधिराजि; पूयादाणंतराय—पूजा (और) दानान्तराय; कम्मफलं—कर्मफल (हैं)।

अनेक रोग

भावार्थ—जो लोग पूजा, दान के शुभ कार्यों में विघ्न डालते हैं वे क्षय, कुष्ठ, मूल, शूल, लूता, (मकड़ी), भगंदर, जलोदर, नेत्र–शिरोरोग, शीत, उष्णादि अनेक रोगों से पीड़ित हो जाते हैं।

१. °कुट्ठि 'व'। °कुट्ठि 'प' 'फ'। °कुट्ठी 'म'। २. °लूइ 'म' 'व'। ३. °जलोयरक्खि 'म' 'व'। ४. °वम्हराई 'म' 'व'। ५. °पूजादाणंतराय 'व'। °पूयादाणांतराय 'प' 'फ'।

णहि दाणं णहि पूया[१] णहि सीलं णहि गुणं ण चारित्तं ।
जे[२] जइणा[३] भणिया ते णेरइया कुमाणुसा होंति[४] ॥३६॥

न हि दानं न हि पूजा न हि शीलं न हि गुणो न चारित्रं ।
ये यतिना भणितास्ते नारका कुमानुषाः भवन्ति ॥३६॥

शब्दार्थ

जे—जो (मनुष्य); **दाणं**—दान; **णहि**—नहीं (देते); **पूया**—पूजा; **णहि**—नहीं (करते); **सीलं**—शील; **णहि**—नहीं (पालते); **गुणं**—गुण; **णहि**—नहीं (धारण करते); **चारित्तं**—चारित्र; **ण**—नहीं (पालते); **ते**—वे (अगले जन्म में); **णेरइया**—नारकी; **कुमाणुसा**—खोटे मनुष्य (और); **तिरिया**—तिर्यंच; **हुंति**—होते हैं (ऐसा); **जइणा**—जिन (तीर्थंकर)ने; **भणिया**—कहा (है)।

दानादि के बिना अच्छी गति नहीं

भावार्थ—जो मनुष्य कभी दान नहीं देते, पूजा नहीं करते, शील नहीं पालते, गुण और चारित्रवान नहीं हैं, वे अगले जन्म में नारकी, खोटे मनुष्य तथा तिर्यञ्च होते हैं, ऐसा जिन-तीर्थंकर ने कहा है ।

१. °पूजा 'अ' 'ग' 'घ' 'प' 'फ' 'व' 'म' 'व'। २. °जइ 'अ' 'फ' 'म' 'व'। ३. °जइणं 'अ' 'फ' 'म' 'व'। ४. °होंति कुमाणुमा तिरिया 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'म' 'व'।

णवि जाणइ जोग्गमजोग्गं णिच्चमणिच्चं हेयमुवादेयं[1] ।
सच्चमसच्चं भव्वमभव्वं सो सम्मउम्मुक्को ॥३८॥

नापि जानाति योग्यमयोग्यं नित्यमनित्यं हेयमुपादेयम् ।
सत्यमसत्यं भव्यमभव्यं स सम्यक्त्वोन्मुक्तः ॥३८॥

शब्दार्थ

(जो मनुष्य) **जोग्गमजोग्गं**—योग्य-अयोग्य; **णिच्चमणिच्चं**—नित्य-अनित्य; **हेयमुवादेयं**—हेय-उपादेय; **सच्चमसच्चं**—सत्य-असत्य (और); **भव्वमभव्वं**—भव्य-अभव्य को; **णवि**—नहीं; **जाणइ**—जानता (है); **सो**—वह; **सम्म**—सम्यक्त्व (से); **उम्मुक्को**—उन्मुक्त (है)।

लौकिक दृष्टि सम्यक्त्व नहीं

भावार्थ—जो मनुष्य क्या योग्य है, क्या अयोग्य है, क्या नित्य व क्या अनित्य है, क्या छोड़ने योग्य और क्या ग्रहण करने योग्य है तथा क्या सत्य तथा क्या असत्य है, कौन भव्य है और कौन अभव्य है—यह नहीं जानता, वह सम्यक्त्व से रहित है।

---

१. °हेउमुवादेयं 'अ' 'फ'।

उग्गो तिव्वो दुट्ठो दुब्भावो[1] दुस्सुदो दुरालावो[2] ।
दुम्मइरदो[3] विरुद्धो[4] सो जीवो सम्मउमुक्को ।।४०।।

उग्रस्तीव्रो दुष्टो दुर्भावो दुःश्रुतो दुरालापः ।
दुर्मतिरतो विरुद्धः स जीवो सम्यक्त्वोन्मुक्तः ।।४०।।

शब्दार्थ

(जो) उग्गो—उग्र; तिव्व—तीव्र; दुट्ठो—दुष्ट (स्वभावी); दुब्भावो—दुर्भावना (युक्त); दुस्सुदो—दुःश्रुत (कुज्ञानी); दुरालावो—दुष्टभाषी; दुम्मइरदो—दुर्मति (में) रत; विरुद्धो—विरुद्ध (धर्म के); सो—वह; जीव—प्राणी; सम्म—सम्यक्त्व (से); उम्मुक्को—उन्मुक्त (है) ।

खोटे भावों वाला सम्यक्त्वी नहीं

भावार्थ—जो मनुष्य उग्र, तीव्र, दुष्ट स्वभाव वाला है और खोटी भावनाएँ करता रहता है तथा जो कुज्ञानी, दुष्टभाषी, खोटी बुद्धि वाला और धर्म के विरुद्ध है,वह प्राणी सम्यक्त्व से रहित है ।

१. °दुब्भाओ 'अ' 'घ' 'प' 'फ' । २. °दुरालाओ 'अ' 'ब' 'प' 'फ' । ३. °दुम्मदरदो 'अ' 'प' 'फ' 'ब' 'म' 'व' । ४. विमुद्धो 'अ' 'प' 'फ' ।

तणुकुट्ठी[1] कुलभंगं कुणइ जहा मिच्छमप्पणो वि तहा ।
दाणाइ सुगुणभंगं[2] गइभंगं[3] मिच्छत्तमेव[4] हो कट्ठं ।।४४।।

तनुकुष्टी कुलभंगं करोति यथा मिथ्यात्वमात्मनोऽपि तथा ।
दानादिसुगुणभंगं गतिभंगं मिथ्यात्वमेव अहो ! कष्टं ।।४४।।

शब्दार्थ

जहा—जैसे; तणुकुट्ठी—शरीर (का) कोढ़ी; कुलभंगं—(अपने) वंश को भंग; कुणइ—कर देता (है); तहा—उसी प्रकार; मिच्छमप्पणो—मिथ्यात्वी अपना (आतमा का कुलभंग कर लेता है); दाणाइ—दानादि; सुगुणभंगं—सद्‌गुणों (को) नष्ट (करता है तथा); गइभंगं—(सद्) गति (का) विनाश; वि—भी; हो—अहो; कट्ठं—कष्ट (है) ।

मिथ्यात्व : कोढ़

भावार्थ—जिस प्रकार शरीर में कोढ़ हो जाने पर मनुष्य अपने वंश को (रक्त के सम्बन्ध के कारण) भंग कर देता है, उसी प्रकार मिथ्यात्वी (अन्धविश्वासी) अपने आतमा के कुल को भंग कर देता है अर्थात् सदा के लिए उससे दूर हो जाता है । इतना ही नहीं, वह दानादि सद्‌गुणों का तथा सद्‌गति का भी विनाश कर देता है । अहो ! कष्ट है ।

---

१. °यह शब्द नहीं है 'म' । २. °भग्गं 'म' 'व' । ३. °भग्गं 'म' 'व' । ४. °मिच्छमेव 'अ' 'ग' 'फ' 'म' 'व' ।

पुव्वट्ठियं खवइ कम्मं पविसुदु[1] णो[2] देइ अहिणवं कम्मं ।
इहपरलोयमहप्पं देइ[3] तहा उवसमो भावो ।।४८।।

पूर्वस्थितं क्षपयति कर्म प्रवेष्टुं न ददाति अभिनवं कर्म ।
इहपरलोकमाहात्म्यं ददाति तथा उपशमो भावः ।।४८।।

शब्दार्थ

उवसमो—उपशम; **भावो**—भाव; **पुव्वट्ठियं**—पूर्वस्थित; **कम्मं**—कर्म (का); **खवइ**—क्षय करता (है) (तथा); **अहिणवं**—अभिनव (नवीन); **कम्मं**—कर्म को; **पविसुदु**—प्रविष्ट होने; **णो**—नहीं; **देइ**—देता (है); **तहा**—तथा; **इह**—इस (लोक में); **परलोय**—पर लोक (में); **महप्पं**—माहात्म्य; **देइ**—देता (प्रकट करता है)।

नए कर्म नहीं लगते

भावार्थ—मोहनीय कर्म का उपशम भाव पूर्व में स्थित कर्म का क्षय करता है और नए कर्म को प्रविष्ट नहीं होने देता है। इस उपशम भाव से इस लोक में और पर लोक में माहात्म्य प्रकट होता है।

१. °पविसुदु 'अ' 'घ' 'प' 'फ'। °परसुदु 'ग' 'व'। °पविसदु 'म' 'व'। २. °णा 'घ'। °य 'म' 'व'।
३. °देहि 'म' 'व'।

अज्जवसप्पिणि[1] भरहे पंचमयाले[2] मिच्छपुव्वया सुलहा ।
सम्मत्तपुव्वसायारणयारा[3] दुल्लहा होंति ॥५०॥

अद्यावसर्पिणीभरते पञ्चमकाले मिथ्यात्वपूर्वकाः सुलभाः ।
सम्यक्त्वपूर्वकाः सागारानगारा दुर्लभा भवंति ॥५०॥

शब्दार्थ

अज्जवसप्पिणि—आज (वर्तमान में); अवसर्पिणी (काल में); **भरहे**—भरत (क्षेत्र में); **पंचमयाले**—पंचम काल में; **मिच्छपुव्वया**—मिथ्यादृष्टि (जीव); **सुलहा**—सुलभ (हैं); (किन्तु); **सम्मत्त-पुव्व**—सम्यग्दृष्टि वाले; **सायारणयारा**—गृहस्थ (और) मुनि; **दुल्लहा**—दुर्लभ; **होंति**—होते हैं।

पापी सुलभ हैं

भावार्थ—वर्तमान हीयमान पंचम काल में इस भरत क्षेत्र में मिथ्यादृष्टि जीव सुलभ रहेंगे, किन्तु सम्यग्दृष्टि मुनि और गृहस्थ दुर्लभ होंगे।

१. अवसप्पिणि ये 'म' 'व'। २. पंचमयाले 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'म' 'व'। ३. सायारणयार 'व'।

असुहादो णिरयाऊ[1] सुहभावादो दु सग्गसुहमाओ ।
दुहसुहभावं जाणइ[2] जं ते रुच्चेइ[3] तं कुज्जा[4] ।।५२।।

अशुभतो नरकायुष्य शुभभावतस्तु स्वर्गसुषमाः ।
दुःखसुखभावं जानीहि यत्तुभ्यं रोचते तत्कुरु ।।५२।।

शब्दार्थ

असुहादो—अशुभ (भावों) से; **णिरयाऊ**—नरकायु (और); **सुहभावादो**—शुभ भावों से; **दु**—तो; **सग्गसुहमाओ**—स्वर्ग-सुख (मिलता है); (इसलिए) **दुहसुहभावं**—दुःख, सुख भाव को; **जाणइ**—जान (कर); **जं**—जो; **ते**—तुझे; **रुच्चेइ**—रुचे। **तं**—उसे; **कुज्जा**—कर।

भावों से गति

भावार्थ—अशुभ भावों से प्राणी को नरकायु और शुभ भावों से स्वर्ग-सुख प्राप्त होता है। इसलिए शुभ भाव सुख को देने वाला है और अशुभ भाव दुःख को, यह जान लेने पर जो रुचे वह करना चाहिए ।

१. °णिरयादो 'अ'। °णिरयाई 'घ'। °णिरयाऊ 'म' 'व'। २. °जाणउ 'म' 'व'। ३. °जं ते रुच्चइ 'अ' 'घ'। °जं ते रुच्चेइ 'फ' 'व'। °जत्ते मज्जे वि 'म' 'व'। ४. °तं कुज्जा 'अ' 'घ' 'फ' 'व'। °तणं कुणहो 'ग' 'प'।

दव्वत्थिकाय-छप्पणतच्चपयत्थेसु सत्तणवएसु[1] ।
बंधणमोक्खे तक्कारणरूवे बारसणुवेक्खे[2] ॥५५॥
रयणत्तयस्सरूवे[3] अज्जाकम्मे[4] दयाइसद्धम्मे ।
इच्चेवमाइगो[5] जो वट्टइ सो होइ सुहभावो[6] ॥५६॥

द्रव्यास्तिकायषट्पंचतत्त्वपदार्थेषु सप्तनवकेषु ।
बंधनमोक्षे तत्कारणरुपे द्वादशानुप्रेक्षासु ॥५५॥
रत्नत्रयस्वरूपे आर्यकर्मणि दयादिसद्धर्मे ।
इत्येवमादिके यो वर्तते स भवति शुभभावः ॥५६॥

शब्दार्थ

जो—जो (जीव); छ-प्पण—छह (और) पाँच; दव्वत्थिकाय—द्रव्य, अस्तिकाय; सत्तणवएसु—सात (और) नौ; तच्चपयत्थेसु—तत्त्व, पदार्थों में; बंधणमोक्खे—बन्धन-मोक्ष में; तक्कारणरूवे—मोक्ष के कारण रूप; बारसणुवेक्खे—बारह अनुप्रेक्षाओं में; रयणत्तयस्सरूवे—रत्नत्रय स्वरूप में; अज्जाकम्मे—आर्य (श्रेष्ठ) कर्म में; दयाइसद्धम्मे—दया आदि सद्धर्म में; इच्चेवमाइगो—इत्यादिक (में); वट्टइ—वर्तन करता (है); सो—वह; सुहभावो—शुभभाव; होइ—होता (है)।

शुभ भावों के निमित्त

भावार्थ—जो मनुष्य छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नव पदार्थों को जानकर उनमें तथा बारह अनुप्रेक्षाओं, रत्नत्रय, शुभ कर्म तथा दयादि सद्धर्म में वर्तन करता है, वह शुभ भाव होता है ।

१. °सतणवगेसु 'फ' 'म' 'व' । २. °अणुवेक्खे 'अ' 'प' 'फ' 'व' । ३. °रूवो 'ग' । ४. °अज्जाकम्मे 'अ' 'प' 'फ' 'म' 'व' । °अज्जाकम्मो 'ग' 'घ' । ५. °इच्चेवणमाइगं 'म' 'व' । ६. °सहभावं 'म' 'व' ।

मोक्खणिमित्तं दुक्खं वहेइ परलोयदिट्ठि तणुदंडी[1] ।
मिच्छाभाव[2] ण छिज्जइ[3] किं पावइ मोक्खसोक्खं हि ॥५८॥

मोक्षनिमित्तं दुःखं वहति परलोकदृष्टिः तनुदण्डी ।
मिथ्यात्वभावान् न छिनत्ति किं प्राप्नोति मोक्षसौख्यं हि ॥५८॥

शब्दार्थ

परलोयदिट्ठि—परलोक पर दृष्टि (रखने वाला); तणुदंडी—देहाश्रित (बहिरात्मा); मोक्खणिमित्तं—मोक्ष के निमित्त; दुक्खं—दुःख; वहेइ—उठाता (है) (किन्तु उससे); मिच्छाभाव—मिथ्यात्व भाव; ण—नहीं; छिज्जइ—छीजता (है) (अतः); मोक्खसोक्खं—मोक्षसुख को; हि—निश्चय से; किं पावइ—क्या पाता है?

परलोक दृष्टि से

भावार्थ—मिथ्यादृष्टि परलोक में सुख पाने की इच्छा से दुःख वहन करता है, किन्तु मिथ्यात्व भाव का क्षय नहीं होने से निश्चय ही मोक्षसुख को प्राप्त नहीं करता ।

---

१. °तणुदंडी 'घ' 'प' 'फ' । °तणुदंडे 'म' 'व' । २. °मिच्छाभाउ 'अ' 'घ' 'प' 'फ' । °मिच्छाभावो 'म' 'व' । ३. °णत्थि जइ 'म' 'व' ।

पुव्वं सेवइ मिच्छामलसोहणहेउ सम्मभेसज्जं ।
पच्छा सेवइ कम्मामयणासणचरियसम्मभेसज्जं ॥६२॥

पूर्वं सेवय मिथ्यात्वमलशोधनहेतुः सम्यक्त्वभैषजम् ।
पश्चात् सेवय कर्मामयनाशनं चारित्रं सम्यग्भैषजम् ॥६२॥

शब्दार्थ

पुव्वं—पहले; मिच्छामल—मिथ्यात्व-मल (के); सोहणहेउ—शोधन हेतु; सम्म—सम्यक्त्व (रूपी); भेसज्जं—भैषज (का); सेवइ—सेवन करे; पच्छा—पश्चात्; कम्मामय—कर्म व्याधि (के); णासण—नाश (करने के) लिए; चरियसम्म—सम्यक्चारित्र (रूपी), भेसज्जं—भैषज (का), सेवइ—सेवन (करे)।

चारित्र : औषध

भावार्थ—नीरोगता प्राप्त करने के लिए प्रथम मिथ्यात्व-मल का शोधन कर सम्यक्त्व रूपी औषध का सेवन करना चाहिए। पश्चात् कर्म-रोग का नाश करने के लिए सम्यक्-चारित्र रूपी औषध का प्रयोग करना चाहिए।

विणओ भत्तिविहीणो महिलाणं रोयणं[1] विणा णेहं ।
चागो वेरग्गविणा एदेदो[2] वारिया[3] भणिया ॥६४॥

विनयो भक्तिविहीनः महिलानां रोदनं विना स्नेहम् ।
त्यागो वैराग्यं विना एते वारिताः भणिताः ॥६४॥

शब्दार्थ

भत्तिविहीणो—भक्ति विहीन; **विणओ**—विनय; **महिलाणं**—स्त्रियों का; **णेहं**—स्नेह; **विणा**—विना; **रोयणं**—रुदन (और); **वेरग्ग**—वैराग्य (के); **विणा**—विना; **चागो**—त्याग; **एदेदो**—ये (नव); **वारिया**—निष्फल; **भणिया**—कहे गए (हैं)।

प्रवृत्तिमूलक त्याग

भावार्थ—भक्ति के विना विनय व्यर्थ है, स्नेहहीन महिला का रुदन व्यर्थ है और वैराग्य के विना त्याग निष्फल कहा गया है ।

१. °रोदणं 'न' 'व'। २. °एदेडो 'ग' 'व'। °एदंदो 'घ'। °एदेदो 'अ' 'प' 'फ' 'व'। °पडेडो 'म'।
३. वारिया 'म' 'व'। °वारिया 'अ' 'प' 'फ' 'व'। °वाहरिया 'ग'। °वारिया 'घ'।

वत्थु[1]समग्गो मूढो लोही[2] लब्भइ[3] फलं जहा[4] पच्छा ।
अण्णाणी जो विसयासत्तो[5] लहइ तहा चेव ॥६६॥

वस्तुसमग्रो मूढो लोभी न लभते फलं यथा पश्चात् ।
अज्ञानी यो विषयासक्तो लभते तथा चैव ॥६६॥

शब्दार्थ

जहा –जैसे; मूढो—मूर्ख (और); लोही—लोभी (पुरुष); समग्गो—समग्र (सम्पूर्ण); वत्थु—वस्तुओं (को); लब्भइ—प्राप्त करता (है); पच्छा—पश्चात्; फलं—फल (की अभिलाषा करता है); तहा—वैसे; चेव—ही; जो—जो; अण्णाणी—अज्ञानी (और); विसयासत्तो—विषयासक्त (है वह); लहइ—प्राप्त करता (है)।

वाञ्छा, फल नहीं

भावार्थ—जिस प्रकार मूर्ख और लोभी मनुष्य संग्रह मात्र करता है, वह संग्रहीत पदार्थों के फल को प्राप्त नहीं कर पाता, वैसे ही अज्ञानी पुरुष विषयों में आसक्त रहने पर भी उनका फल (सुख) प्राप्त नहीं कर पाता; केवल अभिलाषा ही कर पाता है।

१. °वत्थ 'म'। २. °लोहिय 'ग' 'व'। °लोही 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'म' 'व'। ३. °लब्मइ 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'म' 'व'। ४. °जा 'ग' 'घ' 'व'। ५. °विसयासत्तो 'अ' 'प' 'फ' 'म' 'व'। °विसयपरिचत्तो 'ग' 'घ' 'व'।

तह मग्गो णाणी मुत्तावग्गो कम्मं जह णट्ठ ।
णाणमग्गो णिम्मलहिंसो णट्ठ तह चेव ॥६७॥

तद्भुक्तं ज्ञानी मुक्तात्मा कर्म यथा नश्यति ।
ज्ञानमार्गो निर्मलहिंसो नश्यति तथा चैव ॥६७॥

भू-महिला-कंणयाई[1]-लोहाहि-विसहरो कहं पि हवे ।
सम्मत्तणाणवेरग्गोसहमंतेण[2] सह जिणुद्दिट्ठं ॥६८॥

भू-महिला-कनकादि-लोभाहिविषधरो कथमपि भवेत् ।
सम्यक्त्वज्ञानवैराग्यौपधमन्त्रेण सह जिनोद्दिष्टं ॥६८॥

शब्दार्थ

भू—भूमि; महिला—स्त्री; कणयाई—स्वर्ण आदि (के); लोहाहि—लोभ (रूपी) सर्प; विसहर—विषधर (को); कहं पि—किसी प्रकार; सम्मत्तणाण—सम्यक्त्व, ज्ञान; वेरग्गोसह—वैराग्य (रूपी) औषध; मंतेग—मन्त्र (के); सह—साथ (नष्ट किया जा सकता); हवे—है; जिणुद्दिट्ठं—(ऐसा) जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

लोभ-विषधर के निरोधार्थ सम्यक्त्व, ज्ञान, वैराग्य मन्त्र

भावार्थ—भूमि, स्त्री, स्वर्ण आदि का लोभ विषधर के समान दुःखदायी है, जिसे सम्यक्त्व ज्ञान, वैराग्य रूपी औषध तथा मन्त्र के द्वारा नष्ट किया जा सकता है—ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है ।

---

१. °कणया 'म'। °कणयाइ 'अ' 'प' 'फ' 'व'। २. °सहसमंतेण 'म'। °समहमंतेण 'व'। °संजम तेण 'अ' 'फ'।

एवं जो पंचिंदियतणुमणुवचि कुणयाइदंडाउ ।
वज्जइ णिद्दंडाउ णियमप्पणाणणो होइ ॥६२॥

एवं [illegible] पञ्चेन्द्रियतनुमनोवचः कुनयादिदण्डात् ।
वर्जयेत् निर्दण्डः निर्मलात्मज्ञानी भवति ॥६२॥

पति[1]भत्तिविहीण सदी[2] भिच्चो य[3] जिणभत्तिहीण[4] जइणो[5] ।
गुरुभत्तिविहीण सिस्सो दुग्गइमग्गाणुलग्गओ[6] णियमा[7] ॥७०॥

पतिभक्तिविहीना सती भृत्यश्च जिनभक्तिहीनो जैनः ।
गुरुभक्तिहीनः शिष्यो दुर्गतिमार्गानुलग्नो नियमात् ॥७०॥

शब्दार्थ

पतिभत्ति—पति (की) भक्ति (से); **विहीण**—विहीन; **सदी**—सती; **य**—और; **भिच्चो**—भृत्य (नौकर); **जिणभत्ति**—जिनेन्द्रदेव (की) भक्ति (से); **हीण**—हीन; **जइणो**—जैन (और); **गुरुभत्ति**—गुरु (की) भक्ति (से); **विहीण**—विहीन; **सिस्सो**—शिष्य; **णियमा**—नियम से; **दुग्गइ**—दुर्गति (के); **मग्गाणुलग्गओ**—मार्ग (में) लगे हुए (हैं)।

भक्ति बिना गति नहीं

भावार्थ—बिना भक्ति के सद्गति नहीं मिलती। पति की भक्ति से रहित सती और नौकर एवं जिनेन्द्रदेव की भक्ति से हीन जैन और गुरु की भक्ति से विहीन शिष्य नियम से दुर्गति के मार्ग में संलग्न हैं।

---

१. °पदि 'अ' 'घ' 'फ' 'व'। °पडि 'म'। २. °सत्ती 'ग'। ३. °भिच्चो 'म'। °मुच्चो 'व'। ४. °हीणो 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'म'। °विहीण 'व'। ५. °जई 'ग' 'व'। ६. °लग्गणो 'अ' 'ग' 'ब'। ७. °णियदं 'म'। °णियदो 'व'। °जीओ 'घ' 'प'।

हीणादाण-वियार-विहीणादो बाहिरक्खसोक्खं[1] हि ।
किं तजियं किं भजियं किं मोक्खं[2] दिट्ठं[3] जिणुद्दिट्ठं ।।७४।।

हीनादानविचारविहीनात् बाह्यक्षसुखं हि ।
कि त्यक्तं किं भक्तं कि मोक्षो दृष्टो जिनोद्दिष्टः ।।७४।।

शब्दार्थ

हीणादाण-वियार—त्याज्य (और) ग्राह्य (के) विचार (से); विहीणादो—विहीन (होने) से; हि—निश्नय; बाहिरक्खसोक्खं—बाह्य इन्द्रिय-सुख को (मानने वाले); किं तजियं—क्या त्याज्य (है); किं भजियं—क्या ग्राह्य (है); किं मोक्खं—क्या मोक्ष (है); दिट्ठं—देखे (हुए); जिणुद्दिट्ठं—जिनेन्द्रदेव ने कहा (है)।

हेय-उपादेय के विवेक विना सम्भव नहीं है

भावार्थ—हेय-उपादेय के ज्ञान के विना निश्चय से इन्द्रियों के सुख को मानने वाले क्या त्याज्य है, क्या ग्राह्य है, क्या मोक्ष है, यह समझ नहीं पाते । आत्मदर्शी श्री जिनेन्द्रदेव ने यह कहा है ।

१. °सुक्खं 'अ' 'ग' 'घ' 'प' 'फ' 'व' । २. °मोक्खु 'म' 'व' । ३. °ण दिट्ठं 'व' । °णदिच्छं 'म' ।

कम्मु ण खवेइ जो हु परबम्हु णजाणेइ सम्मउम्मुक्को ।
अत्थु[1] ण तत्थु ण जीवो लिंगं घेत्तूण किं करई ।।७६।।

कर्म न क्षपयति यो हि परब्रह्मं न जानाति सम्यक्त्वोन्मुक्तः ।
अत्र न तत्र न जीवो लिंगं गृहीत्वा किं करोति ? ।।७६।।

शब्दार्थ

जो—जो (व्यक्ति); **सम्मउम्मुक्को**—सम्यक्त्व से रहित (है); **परबम्हु**—परब्रह्म (आत्मा को); **ण**—नहीं; **जाणेइ**—जानता (है) (वह); **अत्थु ण**—यहाँ नहीं (और); **तत्थु ण**—वहाँ नहीं (है); **कम्मु**—कर्म (का); **ण**—नहीं; **खवेइ**—क्षय करता (है) (वह); **लिंगं**—वेश को; **घेत्तूण**—ग्रहण कर; **किं**—क्या; **करई**—करता (है) ।

वेश से मुक्ति नहीं

भावार्थ—जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन से रहित है और अपनी आत्मा को नहीं जानता है, वह न तो गृहस्थ है और न मुनि । वह कर्मों का क्षय नहीं करता, इसलिए उसके मुनिवेश धारण करने से भी क्या लाभ है ?

१. अत्थूण 'अ' । वत्थु 'ब' 'प' ।

अप्पाणं पि ण पिच्छइ[1] ण मुणइ ण वि सद्दहइ ण भावेइ[2] ।
बहुदुक्खभारमूलं लिंगं घेत्तूण किं करई[3] ॥७७॥

आत्मानमपि न पश्यति न जानाति नापि श्रद्दधाति न भावयति ।
बहुदुःखभारमूलं लिंगं गृहीत्वा किं करोति ? ॥७७॥

शब्दार्थ

(यदि साधु) अप्पाणं—आत्मा को, पि—भी, ण—नहीं, पिच्छइ—देखता (पहचानता), ण—नहीं, मुणइ—मनन करता, ण वि—न ही, सद्दहइ—श्रद्धान करता (और), ण—नहीं, भावेइ—(भावना) भाता (है तो), बहुदुक्खभार—अत्यन्त दुःखभार (के), मूलं—कारण, लिंगं—वेष को, घेत्तूण—धारण कर, किं—क्या, करई—करता (है)। (अर्थात् साधु का वेष मात्र धारण करता है।)

और भी

भावार्थ—यदि साधु अपनी आत्मा के दर्शन नहीं करता, उसका मनन और श्रद्धान नहीं करता तथा भावना भी नहीं भाता, तो बहुत से दुःखभार का कारण स्वरूप साधुवेश धारण करने से कोई लाभ नहीं है।

---

1 'पेच्छइ' ब । 2 'भावएई' ब । 3 'कुणइ' ब', 'कुणई' ब ।

जाव ण जाणइ अप्पा अप्पाणं दुक्खमप्पणो ताव[1] ।
तेण अणंत सुहाणं अप्पाणं भावए जोई ॥७८॥

यावन्न जानाति आत्मा आत्मानं दुःखमात्मनस्तावत् ।
तेन अनन्तसुखमात्मानं भावयेद् योगी ॥७८॥

शब्दार्थ

जाव—जब तक; अप्पा—आत्मा; अप्पाणं—अपने आपको; ण—नहीं; जाणइ—जानता है; ताव—तब तक; अप्पणो—आत्मा (का); दुक्खं—दुःख (प्रतीत नहीं होता); तेण—इसलिए; जोई—योगी (मुनि); अणंतसुहाणं—अनन्त सुख (से युक्त); अप्पाणं—आत्मा का; भावए—चिन्तन करता है।

आत्मभावना

भावार्थ—जब तक यह आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को नहीं जान लेता, तब तक अपने दुःख की प्रतीति नहीं होती। अतएव मुनि अनन्त सुख से युक्त आत्मा का चिन्तन करते हैं।

१. तावं 'व'। °माव 'घ' 'प'।
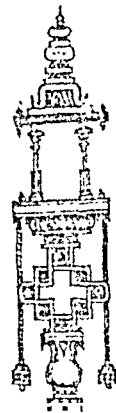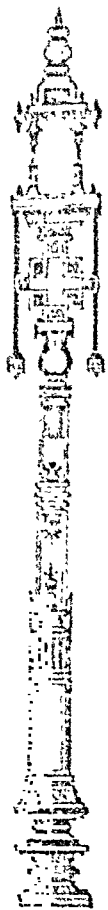
साल[1]विहीणो राओ[2] दाणदयाधम्मरहिय गिहि[3]सोहा ।
णाणविहीणतवोवि य जीवविणा देहसोहा णो ॥८०॥

सालविहीनो राजा दानदयाधर्मरहितगृहिशोभा ।
ज्ञानविहीनतपोऽपि च जीवं विना देहशोभेव ॥८०॥

शब्दार्थ

सालविहीणो—दुर्ग के विना (जैसे); राओ—राजा; दाणदयाधम्मरहिय—दान, दया, (और) धर्म से रहित; गिहि—गृहस्थ की; सोहा—शोभा (नहीं होती); (वैसे ही); णाणविहीण—ज्ञान से विहीन; तवो—तप; वि—भी; य—और; जीवविणा—जीव के बिना; देहसोहा—देह की शोभा; णो—नहीं (होती है)।

इनके विना शोभा नहीं

भावार्थ—जैसे दुर्ग के विना राजा की शोभा और दान, दया तथा धर्म से रहित गृहस्थ की शोभा नहीं होती, वैसे ही ज्ञान से रहित तप तथा जीव के विना शरीर की शोभा नहीं होती है।

१. °सील 'व'। २. °राउ 'प' 'फ'। °राया 'व'। °राओ 'अ' 'घ' 'म' 'व'। ३. °गिह 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'म' 'व'। ४. °व 'अ' 'फ' 'म' 'व'। च 'ग' 'घ' 'प'।
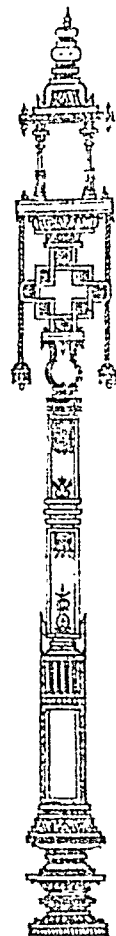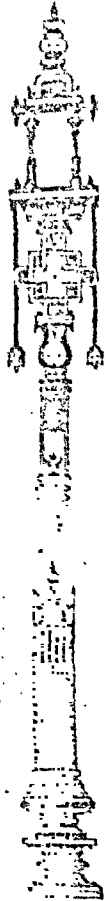
णाणब्भासविहीणो सपरं तच्चं ण जाणए किं वि[1] ।
झाणं तस्स ण होइ हु[2] जाव ण कम्मं खवेइ ण हु मोक्खं[3] ॥८२॥

ज्ञानाभ्यासविहीनः स्वपरं तत्त्वं न जानति किमपि ।
ध्यानं तस्य न भवति हि तावन्न कर्म क्षपयति न हि मोक्षः ॥८२॥

शब्दार्थ

णाणब्भासविहीणो—ज्ञानाभ्यास से विहीन (जीव); **सपरं**—स्व (आत्मा) (और) पर (अन्य द्रव्य); **तच्चं**—तत्त्व को; **किं वि**—कुछ भी; **ण**—नहीं; **जाणए**—जानता; **तस्स**—उसके; **झाणं**—ध्यान; **हु**—ही (भी); **ण**—नहीं; **होइ**—होता है; (और) **जाव**—जब तक; **कम्मं**—कर्म को; **ण**—नहीं; **खवेइ**—नष्ट करता; **मोक्खं**—मोक्ष; **ण हु**—नहीं ही (होता)।

सम्यग्ज्ञान से मोक्ष

भावार्थ—सम्यग्ज्ञान के अभ्यास के विना यह जीव शुद्ध आत्मा तथा अन्य द्रव्यों में से किसी को भी भलीभाँति नहीं जान पाता। वास्तव में उसे आत्मा का ध्यान ही नहीं होता। ध्यान न होने से कर्म नष्ट नहीं होते और कर्म के क्षय के विना मोक्ष नहीं होता।
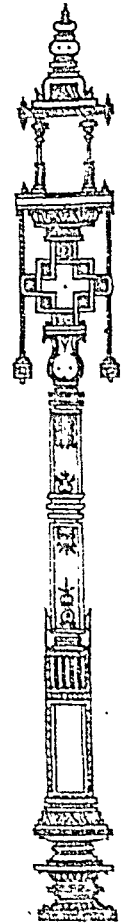
१. °किपि 'ग' 'म' 'व'। २. °डु 'अ' 'ग' 'घ' 'व'। ३. °मोक्खो 'क'।

पावारंभणिवित्ती[1] पुण्णारंभे पउत्तिकरणं वि[2] ।
णाणं धम्मज्झाणं जिणभणियं सव्वजीवाणं ।।८४।।
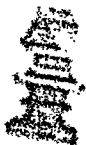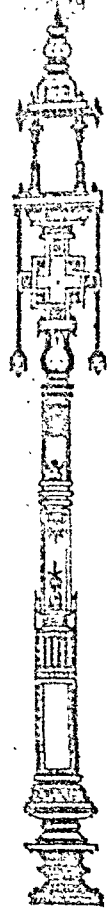
पापारंभनिवृत्तिः पुण्यारंभे प्रवृत्तिकरणमपि ।
ज्ञानं धर्मध्यानं जिनभणितं सर्वजीवानाम् ।।८४।।

शब्दार्थ

पावारंभणिवित्ती—हिंसा के कार्यों से निवृत्त (हो कर); **पुण्णारंभे**—पुण्य के कार्यों में; **पउत्तिकरणं**—प्रवृत्ति करना; **वि**—भी; **णाणं**—ज्ञान (और); **धम्मज्झाणं**—धर्मध्यान को; **सव्वजीवाणं**—सब जीवों के लिए (मुक्ति का कारण); **जिणभणियं**—जिन (देव) ने कहा है ।

संसार के पार जाना है तो

भावार्थ—यदि संसार के पार जाना चाहते हो तो हिंसा के कार्यों से छूट कर पुण्य के कार्यों में प्रवृत्ति करनी चाहिए । जिनदेव ने ज्ञान और धर्मध्यान को सब जीवों के लिए मुक्ति का कारण कहा है ।

---

१. °णिमित्ती 'म' । २. °पि 'अ' 'ग' 'घ' 'म' 'व'
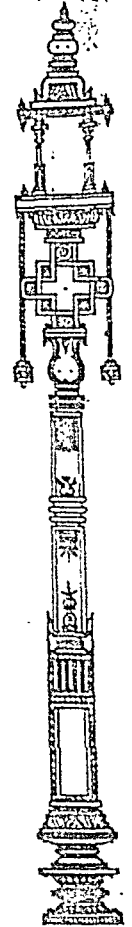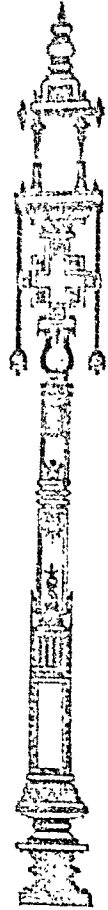
तच्चवियारणसीलो मोक्खपहाराहणसहावजुदो[1] ।
अणवरयं धम्मकहा पसंगओ[2] होइ मुणिराओ ।।८६।।

तत्त्वविचारणशीलो मोक्षपथाराधनास्वभावयुतः ।
अनवरतं धर्मकथाप्रसंगतो भवति मुनिराजः ।।८६।।

शब्दार्थ

तच्चवियारणसीलो—तत्त्व की विचारणा करने वाले; **मोक्खपहाराहणसहावजुदो**—मोक्ष-पथ की आराधना के स्वभाव से युक्त (तथा); **अणवरयं**—अनवरत (निरन्तर); **धम्मकहापसंगओ**—धर्म-कथा के सम्बन्ध से (सहित); **मुणिराओ**—मुनिराज; **होइ**—होते (हैं)।

मुनि : तत्त्व में मननशील

भावार्थ—मुनिवर तत्त्व का चिन्तन-मनन करने वाले, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप मोक्ष-मार्ग की आराधना के स्वभाव से युक्त निरन्तर धर्मकथा करते हैं।

---

१. °जोदो 'म'। २. °पसंगदो 'ग' 'व'। °पसंगओ 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'म' 'व'।
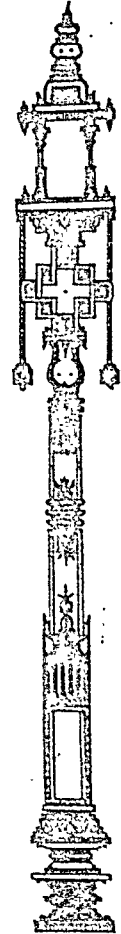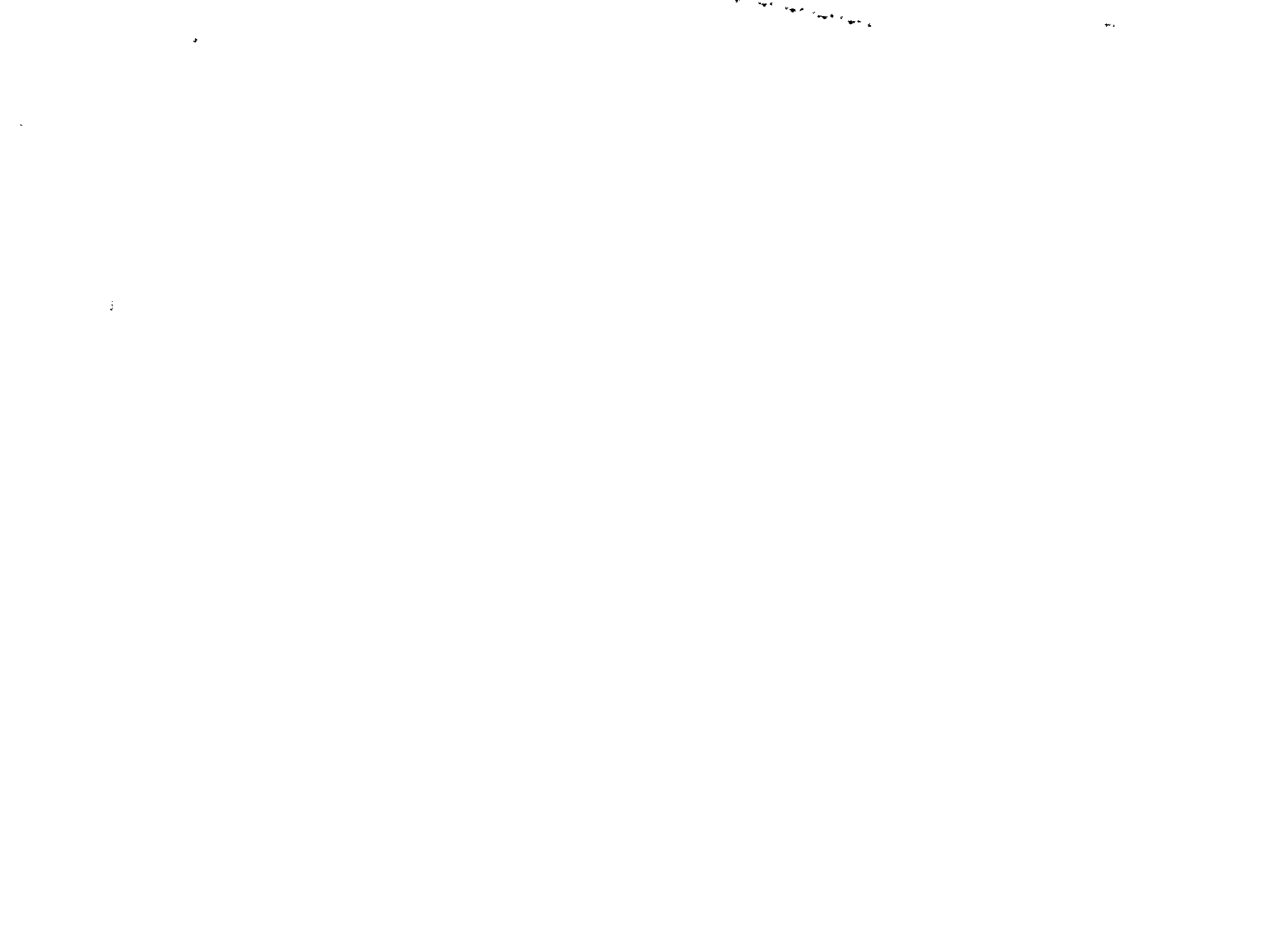
णिंदावंचणदूरो परीसहउवसग्गदुक्खसहमाणो[1] ।
सुह[2]झाणज्झयणरदो गय[3]संगो होइ मुणिराओ ।।८८।।

निंदावंचनदूरः परीषहोपसर्गदुःखसहमानः ।
शुभध्यानाध्ययनरतो गतसङ्गो भवति मुनिराजः ।।८८।।

शब्दार्थ

(जो) णिंदा—निन्दा; वंचण—वंचना (से); दूर—दूर (है); परीसह—परीषह; उवसग्ग—उपसर्ग; दुक्ख—दुःख; सहमाणो—सहनशील (है और); सुह—शुभ; झाणज्झयण—ध्यान-अध्ययन (में); रद—रत (लीन); गयसंगो—परिग्रह विहीन; (है, वह) मुणिराओ—मुनिराज; होइ—होता (है)।

समभावी : ज्ञानाध्ययन में निरत

भावार्थ—जो दूसरे की निन्दा-वंचना (ठगाई) से दूर रहते हैं, चारों ओर के कष्ट-दुःखों को सम भाव से सहन करते हैं और शुभ ध्यान-अध्ययन में सदा लीन रहते हैं एवं परिग्रह से रहित होते हैं, वे मुनिराज होते हैं।

---

१. °दुक्खसहमाणो 'अ' 'ग' 'फ' 'व' 'म' 'व'। °दुक्खसहमाणा 'घ' 'प'। °दुक्खसहमावो 'फ'।
२. °सह 'व'। ३. °गइ 'ग' 'व'।

तिव्वं कायकिलेसं कुव्वंतो मिच्छभावसंजुत्तो[1] ।
सव्वण्हूवएसो[2] सो णिव्वाणसुहं ण गच्छेई ॥९०॥

तीव्रं कायक्लेशं कुर्वन् मिथ्यात्वभावसंयुक्तः ।
सर्वज्ञोपदेशो स निर्वाणसुखं न गच्छति ॥९०॥

शब्दार्थ

(जो) तिव्व—तीव्र; कायकिलेसं—कायक्लेश (को); कुव्वंतो—करता हुआ (भी)। ; मिच्छभाव—मिथ्यात्व भाव (से); संजुतो—सयुक्त (है); सो—वह; णिव्वाणसुहं—निर्वाण सुख को; ण—नहीं; गच्छेइ—प्राप्त करता है (यह); सव्वण्हूवएसो—सर्वज्ञ (का) उपदेश (है)।

दुर्ध्यान से सुख नहीं

भावार्थ—जो घोर तप करता हुआ भी मिथ्यात्व भाव से युक्त है, वह शाश्वत सुख रूप मुक्ति को प्राप्त नहीं करता—यह सर्वज्ञ का उपदेश है।

१. °मिच्छभावणाजुत्तो 'म' 'व'। °मिच्छभावणजुत्तो 'अ' 'प' 'फ'। २. °सव्वण्हूवएसे 'म' 'व'।

दंडत्तय सल्लत्तय मंडियमाणो असूयगो साहू ।
भंडणजायणसीलो हिंडइ सो दीहसंसारे[1] ॥९२॥

दण्डत्रयशल्यत्रयर्चितमानोऽसूयकः साधुः ।
भण्डनयाचनशीलो हिण्डते सः दीर्घसंसारे ॥९२॥

शब्दार्थ

(जो तपस्वी) **दंडत्तय**—तीन दण्ड (मन, वचन, शरीर को वश में न रखने वाले); **सल्लत्तय**—तीन शल्य (मिथ्या, माया, निदान) (से); **मंडियमाणो**—शोभायमान; **असूयगो**—ईर्ष्यावान (और); **भंडण**—कलह; **जायणसीलो**—याचनाशील; **साहु**—साधु (हैं); **सो**—वह; **दीह**—दीर्घ; **संसारे**—संसार में; **हिंडइ**—घूमते (हैं)।

संयमी ही साधु

भावार्थ—जो तपस्वी अपने मन, वाणी और शरीर पर नियन्त्रण नहीं रखते और मिथ्यात्व, माया तथा निदान से युक्त हो ईर्ष्या, कलह, याचना करने वाले होते हैं, वे दीर्घ काल तक संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं।

---

१. संसारी 'य'।
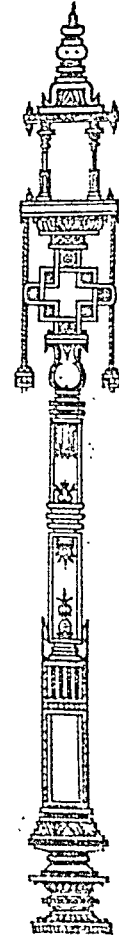
आरंभे[१] धणधण्णे उवयरणे कंखिया[२] तहासूया ।
वयगुणसीलविहीणा कसायकलहप्पिया मुहरा[३] ॥९४॥
संघविरोहकुसीला सच्छंदा रहिय[४] गुरुकुला मूढा ।
रायाइसेवया[५] ते जिणधम्मविराहिया[६] साहू ॥९५॥

आरंभे धनधान्ये उपकरणे कांक्षितास्तथाऽसूया: ।
व्रतगुणशीलविहीना: कषायकलहप्रिया: मुखरा: ॥९४॥
संघविरोधकुशीला: स्वच्छन्दा रहितगुरुकुला मूढा: ।
राजादिसेवका: ते जिनधर्मविराधका: सावव: ॥९५॥

शब्दार्थ

आरंभे—आरम्भ (व्यापार) में; धणधण्णे—धन-धान्य में (तथा); उवयरणे—उपकरण में; कंखिया—इच्छा रखने वाले; तहा—तथा; सूया—ईर्ष्यालु; वयगुणसील—व्रत, गुण, शील (से); विहीणा—विहीन; कसायकलहप्पिया—कषाय (व) कलहप्रिय; मुहरा—मुखर; संघविरोहकुसीला—संघविरोध स्वभावी; सच्छंदा—स्वच्छन्द; गुरुकुलारहिय—गुरु (की) आज्ञा से रहित; मूढा—अज्ञानी; रायाइसेवा—राजादि की सेवा (में रहने वाले); साहु—साधु (हैं); ते—वे; जिणधम्मविराहिया—जिनधर्म के विरोधी (हैं) ।

व्रत, गुण, शीलादि हीन साधु नहीं हैं

भावार्थ—जो व्यापार, धन-धान्य, वर्तन की अभिलाषा रखने वाले ईर्ष्यालु, कषाय-कलहप्रिय, मुखर तथा साधु-संघ के विरोधी स्वभाव वाले, गुरु की आज्ञा नहीं मानने वाले, अज्ञानी, व्रत, गुण, शील से हीन, राजादि की सेवा में रहने वाले हैं, वे जिन-धर्म की विराधना करने वाले हैं ।

---

१. °आरम्भे 'अ' 'घ' 'प' 'फ' । २. °कंक्खिया 'ग' 'व' । ३. °महुरा 'अ' 'ग' । °मुहुरा 'व' । ४. °रहिद 'म' 'व' । ५. °रायाइसव्वया 'ग' । ६. °विराहये 'म' 'व' ।
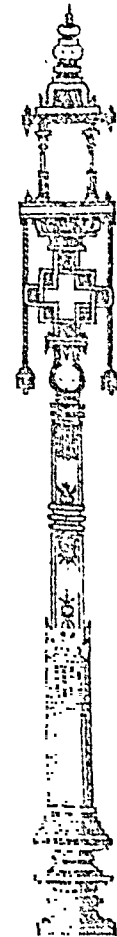
जे पावारंभरया कसायजुत्ता परिग्गहासत्ता ।
लोयववहारपउरा ते साहू सम्मउम्मुक्का ॥९७॥

ये पापारभरताः कपाययुक्ताः परिग्रहासक्ताः ।
लोकव्यवहारप्रचुराः ते सावव: सम्यक्त्वोन्मुक्ताः ॥९७॥

शब्दार्थ

जे—जो; साहू—साधु; पावारंभरया—पाप-आरम्भ (में); रत (हैं); कसायजुत्ता—कपाय (से) युक्त; परिग्गहासत्ता—परिग्रह (में) आसक्त (हैं); (और) लोयववहारपउरा—लोक-व्यवहार (में) चतुर (हैं); ते—वे; सम्म—सम्यक्त्व (से); उम्मुक्का—उन्मुक्त (हैं)।

लोकव्यवहार में रत साधु नहीं हैं

भावार्थ—जो साधुजन पाप के कार्यों में लगे हुए हैं, क्रोव, मान, माया और लोभ से युक्त तथा परिग्रह में आसक्त हैं, वे लोक-व्यवहार में भले ही चतुर हों, परन्तु सम्यक्त्व से रहित हैं।
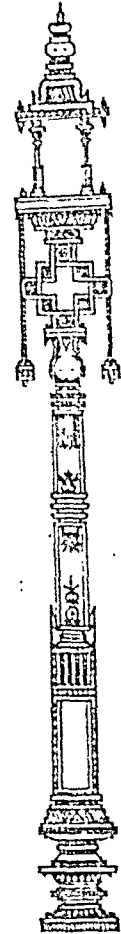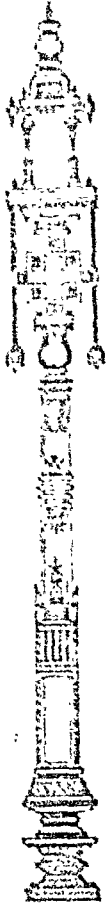
भुंजेइ[1] जहा लाहं लहेइ जइ णाणसंजमणिमित्तं[2] ।
झाणज्झयणणिमित्तं अणयारो मोक्खमग्गरओ[3] ॥९९॥

भुंक्ते यथालाभं लभते यतिः ज्ञानसंयमनिमित्तं ।
ध्यानाध्ययननिमित्तं अनगारो मोक्षमार्गरतः ॥९९॥

शब्दार्थ

जइ—यति (साधु); जहा लाभं—यथा लाभ (जो कुछ प्राप्त होता है, वह); भुंजेइ—भोजन करता है (और वह); णाणसंजम—ज्ञान, संयम (के); णिमित्तं—निमित्त; लहेइ—ग्रहण करता (है); मोक्खमग्ग—मोक्षमार्ग (में); रओ—रत; अणयारो—साधु; झाणज्झयण—ध्यानाध्ययन (के); णिमित्तं—निमित्त; लहेइ—ग्रहण करता (है)।

उत्तम मुनि का लक्षण

भावार्थ—साधु को यथासमय जो आहार उपलब्ध होता है, वह उस का ही भोजन करता है। यह भोजन भी वह ज्ञान, संयम की आराधना के निमित्त ग्रहण करता है। मोक्षमार्ग में लीन रहने वाला साधु केवल ध्यान-अध्ययन के हेतु भोजन ग्रहण करता है। यथार्थ में वह भोजन की आकाक्षा नहीं रखता है।

१°. मुंजइ 'म' 'व'। २°. णाणसंयमणिमित्तं 'घ'। ३°. मोक्खमग्गरवो 'ग' 'व'।

रसरुहिरमंसमेदट्ठि[1]सुकिलमलमुत्तपूयकिमिबहुलं[2] ।
दुग्गंधमसुइचम्ममयमणिच्च[3]मचेयणं पडणं[4] ॥१०१॥
वहुदुक्खभायणं कम्मकारणं भिण्णमप्पणोदेहो[5] ।
तं देहं[6] धम्माणुट्ठाणकारणं चेदि[7] पोसए भिक्खू ॥१०२॥

रसरुधिरमांसमेदाऽस्थिशुक्रमलमूत्रपूयकृमिवहुलम् ।
दुर्गन्धमशुचिचर्ममयमनित्यमचेतनं पतनं ॥१०१॥
वहुदुःखभाजनं कर्मकारणं भिन्नमात्मनोदेहः ।
तं देहं धर्मानुष्ठानकारणं चेति पोपयेत् भिक्षुः ॥१०२॥

शब्दार्थ

देहो—शरीर; रसरुहिरमंस—रस, रुधिर, मांस; मेदट्ठिसुकिल—मेदा, अस्थि, शुक्र; मलमुत्तपूय—मल, मूत्र, पीव; किमिबहुलं—कृमियों से भरा (हुआ); दुग्गंधमसुइ—दुर्गन्ध, अशुचि; चम्ममयं—चर्ममय; अणिच्चमचेयणं—अनित्य (व) अचेतन; पडणं—पतन (शील); वहुदुक्खभायणं—वहुत दुःखों का पात्र; कम्मकारणं—कर्मों का कारण; अप्पणो भिण्णं—आत्मा से भिन्न (है); तं देहं—उस शरीर को; भिक्खू—मुनि; धम्माणुट्ठाणकारणं—धर्म-सेवन के कारण; चेदि—ऐसा (जान कर); पोसए—पोपण करता (है)।

मोह नहीं करते

भावार्थ—यह शरीर रस, रक्त, माँस, मेदा, हड्डी, वीर्य, मल-मूत्र, पीव, कृमियों से भरा हुआ दुर्गन्वित, अपवित्र, चमड़ा वाला, अनित्य, अचेतन, पतनशील, वहुत दुःखों का पात्र, कर्मों का कारण और आत्मा से भिन्न है। केवल धर्म-सेवन में निमित्त होने के कारण मुनि इसका पोपण करता है।

१. °मेदट्ठिमज्ज 'व' 'म' 'व'। २. °कुलं 'ग' 'प'। ३. °मणच्च 'म'। ४. °पदणं 'क'। ५. °देहं 'ज' 'घ' 'प' 'फ' 'म' 'व'। ६. °देहोह 'म'। °देहेह 'व'। ७. °चेइ 'व'।

कोहेण य कलहेण य जायणसीलेण संकिलेसेण ।
रुद्देण य रोसेण य भुंजइ किं वितरो[1] भिक्खू ॥१०४॥

क्रोधेन च कलहेन च याचनाशीलेन संक्लेशेन ।
रुद्रेण च रोषेण च भुंक्ते किं व्यन्तरो भिक्षुः ॥१०४॥

शब्दार्थ

कोहेण—क्रोध से; **य**—और; **कलहेण**—कलह से; **य**—और; **जायण**—याचना; **सीलेण**—स्वभाव से; **संकिलेसेण**—संक्लेश से; **य**—और; **रुद्देण**—रौद्र (परिणाम) से; **रोसेण**—रोष से (यदि); **भुंजइ**—भोजन करता (है तो); **किं**—क्या; **भिक्खू**—भिक्षु (मुनि है ? वह तो); **वितरो**—व्यन्तर (है)।

भोजन में भी समभावी

भावार्थ—आहार के समय क्रोध, कलह, याचना, संक्लेश, रौद्रपरिणाम और रूठना आदि वर्जित हैं। यदि मुनि में ये बातें हों, तो उसे व्यन्तर समझना चाहिए।

१. °वेंतरो 'व'। °चितरो 'म'। °चितए 'ब'।

अविरददेसमहव्वय[1] आगमरूइणं[2] वियारतच्चण्हं[3] ।
पत्तंतरं[4] सहस्सं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥१०६॥

अविरतदेशमहाव्रत्यागमरुचीनां विचारतत्त्वानाम् ।
पात्रान्तरं सहस्रं निर्दिष्टं जिनवरेन्द्रैः ॥१०६॥

शब्दार्थ

जिणवरिंदेहिं—जिनेन्द्रदेवों के द्वारा; अविरददेसमहव्वय—अविरत, देशविरत, महाव्रत; आगमरुइणं—आगमरुचिक (और); वियारतच्चण्हं—तत्त्व-विचारक (आदि); सहस्सं—सहस्र; पत्तंतरं—पात्रान्तर; णिद्दिट्ठं—निर्दिष्ट (किए गए हैं)।

पात्रों के भेद

भावार्थ—जिनेन्द्रदेव ने पात्रों के कई भेद बतलाए हैं; जैसे कि अविरती, देशव्रती, महाव्रती, आगमरुचिक और तत्त्वविचारक, इत्यादि हजारों अन्य पात्र कहे गए हैं ।

---

१. °महव्वइ 'फ' 'म' । २. °हरतं 'अ' 'प' 'फ' 'ब' 'म' । ३. °वेयारतच्चण्हू 'अ' 'म' । ४. °पत्तंततर 'म' । °पत्तंतर 'ब' ।

ण वि जाणइ जिण-सिद्ध-सरूवं तिविहेण तह णियप्पाणं ।
जो तिव्वं कुणइ तवं सो हिंडइ[1] दीहसंसारे ॥१०८॥

नापि जानाति जिनसिद्धस्वरूपं त्रिविधेन तथा निजात्मानम् ।
यस्तीव्रं करोति तपं सः हिण्डते दीर्घसंसारे ॥१०८॥

शब्दार्थ

जो—जो (व्यक्ति); **जिण**—जिन (को); **सिद्ध-सरूवं**—सिद्ध-स्वरूप को; **तह**—तथा; **णियप्पाणं**—निज आत्मा को; **तिविहेण**—तीन प्रकार से (बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के भेद से); **ण वि**—नहीं ही; **जाणइ**—जानता है; **सो**—वह; **तिव्वं**—तीव्र (घोर); **तवं**—तप (करता हुआ भी); **दीहसंसारे**—दीर्घ संसार में; **हिंडइ**—भ्रमण करता (है)।

भेद-विज्ञान के बिना संसारी

भावार्थ—जो व्यक्ति जिन के, सिद्ध के और अपनी आत्मा के स्वरूप को बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के भेद से नहीं जानता, वह घोर तप करता हुआ भी चिर काल तक संसार में भ्रमण करता रहता है।

१. हिंडदि 'ब'।
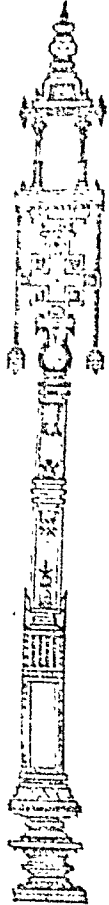
किं जाणिऊण सयलं तच्चं किच्चा तवं च किं बहुलं ।
सम्मविसोहिविहीणं णाणतवं जाण भवबीयं ।।११०।।

किं ज्ञात्वा सकलं तत्त्वं कृत्वा तपश्च किं बहुलं ।
सम्यक्त्वविशुद्धिविहीनं ज्ञानं तपं जानीहि भवबीजं ।।११०।।

शब्दार्थ

सयलं—सकल (सम्पूर्ण); तच्चं—तत्त्व को; जाणिऊण—जान कर (भी); किं—क्या ? च—और; बहुलं—विपुल; तवं—तप; किच्चा—कर के (भी); किं—क्या ? सम्मविसोहि—सम्यक्त्व की विशुद्धि; विहीणं—विहीन; णाण—ज्ञान, तवं—तप को; भवबीयं—भव का बीज; जाण—जानो।

सम्यक्त्व-विशुद्धि से ही आत्महित

भावार्थ—सम्पूर्ण तत्त्वों को जान लेने से भी क्या लाभ है ? और घोर तप करने से भी कोई लाभ नहीं है। सम्यक्त्व की शुद्धि के विना ज्ञान और तप संसार के कारण हैं।
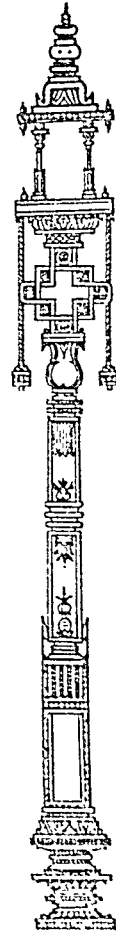
खाई[1]पूया[2]लाहंसक्काराइं किमिच्छसे[3] जोई ।
इच्छसि[4] जइ परलोयं तेंहि किं तुज्झ परलोयं ॥११२॥

ख्याति पूजां लाभं सत्कारादि किमिच्छसि योगिन् ।
इच्छसि यदि परलोकं तैः किं तव परलोकः ॥११२॥

शब्दार्थ

जोई—हे योगी! ; जइ—यदि; परलोयं—पर लोक को; इच्छसि—चाहते हो (तो); खाई—ख्याति; पूया—पूजा; लाहं—लाभ; सक्काराइं—सत्कारादि को; किमिच्छसे—क्यों चाहते हो ? किं—क्या; तेंहि—उनसे; तुज्झ—तुझे; परलोयं—परलोक (अच्छा जन्म प्राप्त होगा ?) ।

यश, पूजा, आदि के लोभ से नहीं

भावार्थ—हे योगी ! यदि परलोक सुधारना चाहते हो तो कीर्ति, पूजा, लाभ, सत्कार, आदि की इच्छा मत रखो । क्योंकि इनसेअगला अच्छा जन्म प्राप्त नहीं होगा ।

१. °खाइं 'म' 'व' । २. °पूजा 'म' 'व' । ३. °किमिच्छए 'ग' । °किमिच्छसे सो 'व' ४. °इच्छइ 'ग' ।
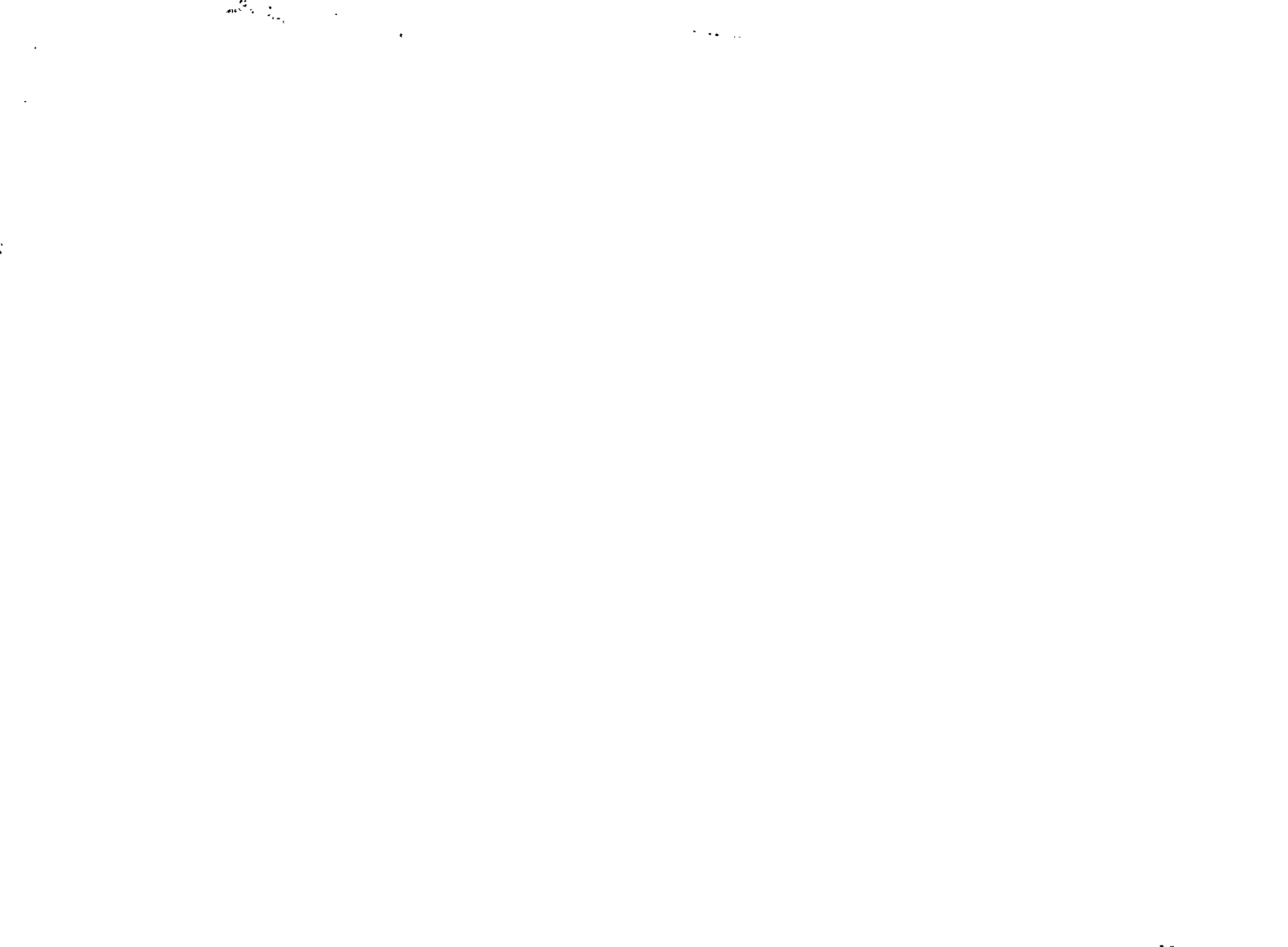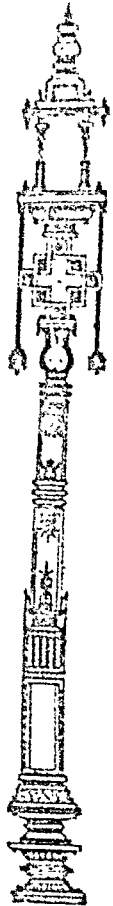
णियअप्पणाणझाणज्झयण[1] - सुहामियरसायणप्पाणं ।
मोत्तूणक्खाणसुहं[2] जो भुंजइ सो हु बहिरप्पा ॥११६॥

निजआत्मज्ञानध्यानाध्ययनसुखामृतरसायनपानम् ।
मुक्त्वा अक्षाणां सुखं यो भुंक्ते स हि वहिरात्मा ॥११६॥

शब्दार्थ

णिय—निज; अप्प—आत्मा (के लिए); णाण—ज्ञान, झाणज्झयण—ध्यान-अध्ययन; सुहामिय—शुभ अमृत; रसायणप्पाणं—रसायन-पान को; मोत्तूण—छोड़ कर; जो—जो (मनुष्य); अक्खाण-सुहं—इन्द्रियों के सुख को; भुंजइ—भोगता (है); सो—वह; हु—(निश्चय) ही; वहिरप्पा—वहिरात्मा (है)।

आत्मज्ञानी : अन्तरात्मा (अन्तर्मुख)

भावार्थ—जो स्वयं के आत्मज्ञान के लिए ध्यान-अध्ययन रूपी शुभ अमृत रसायन-पान को छोड़ कर इन्द्रियों के सुख भोगने में रत रहता है, वह निश्चय ही वहिरात्मा है।

---

१. °णिय अप्पा णाणज्झयंण 'घ' 'प' । °णिय अप्पाणज्झाणज्झयण 'व' । २. °सहं 'म' ।
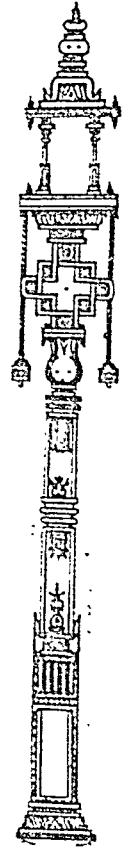
देहकलत्तंपुत्तंमित्ताइं[1] विहावचेदणा[2]रूवं ।
अप्पसरूवं भावइ सो चेव हवेइ बहिरप्पा ।।११८।।

देहं कलत्रं पुत्र मित्रादि विभावचेतनारूपम् ।
आत्मस्वरूपं भावयति स हि भवेत् वहिरात्मा ।।११८।।

शब्दार्थ

(जो व्यक्ति) देह—शरीर; कलत्तं—पत्नी; पुत्तं—पुत्र; मित्ताइं—मित्रादि (और); विहावचेदणा-रूवं—विभाव-चेतना रूप को; अप्पसरूवं—आत्मस्वरूप; भावइ—भाता (है); सो—वह; चेव—ही; वहिरप्पा—वहिरात्मा; हवेइ—होता (है)।

और

भावार्थ—जो मनुष्य शरीर को, स्त्री को, पुत्र को, मित्रादि को और पर-पदार्थों को अपना या आत्मस्वरूप मानता है, वह निश्चय ही वहिरात्मा है ।

१. °मत्तादि 'ग' । २. °विहावचेदणो 'म' 'व' । °विहावचेदना 'ग' ।

जेंसि अमेज्झमज्झे उप्पण्णाणं हवेइ तत्थ रुई[1] ।
तह बहिरप्पाणं बहिरिंदिय विसएसु होइ मई ॥१२०॥

येषां अमेध्यमध्ये उत्पन्नानां भवति तत्र रुचिः ।
तथा बहिरात्मनां बहिरिन्द्रियविषयेषु भवति मतिः ॥१२०॥

शब्दार्थ

जेंसि—जैसे; **अमेज्झ**—विष्टा (के); **मज्झे**—मध्य में; **उप्पण्णाणं**—उत्पन्न हुए (कीड़े की); **तत्थ**—उसमें (विष्टा में); **रुई**—रुचि; **हवेइ**—होती है; **तह**—वैसे; **बहिरप्पाणं**—बहिरात्माओं की (रुचि); **बहिरिंदिय**—बाह्येन्द्रिय—(विषयों में); **मई**—मति (बुद्धि); **होइ**—होती (है)।

बहिरात्मा की रुचि बाह्य होती है

भावार्थ—जैसे विष्टा में उत्पन्न होने वाले कीड़े की रुचि उस विष्टा में होती है, उसी प्रकार बहिरात्मा की रुचि तथा बुद्धि इन्द्रियों के विषयों में होती है।

१. तत्थेव 'अ' 'फ' 'व' 'म' 'व'। तत्थेव रुइ 'ग'। २. °रुई 'अ' 'ग' 'फ' 'म' 'व'।

मलमुत्तघडव्वचिरं वासिय दुव्वासणं ण मुंचेइ ।
पक्खालिय सम्मत्तजलो यण्णाणम्मएण[1] पुण्णो वि ॥१२२॥

मलमूत्रघटवत् चिरवासितां दुर्वासनां न मुंचति ।
प्रक्षालितसम्यक्त्वजलो यज्ज्ञानामृतेन पूर्णोऽपि ॥१२२॥

शब्दार्थ

मलमुत्त—मल-मूत्र (के); **घडव्व**—घड़े की भाँति (जो); **चिरं**—चिर काल (से); **वासिय**—दुर्गन्धित (है अपनी); **दुव्वासणं**—दुर्वासना को; **ण**—नहीं; **मुंचेइ**—छोड़ता (है); (इसी प्रकार) **यण्णागम्मएण**—जो ज्ञानामृत से; **पुण्णो**—पूर्ण (है); **सम्मत्तजलो**—सम्यक्त्व जल (से); **पक्खालिय**—प्रक्षालित (होने पर); **वि**—भी; (दुर्वासनाओं को नहीं छोड़ता)।

दुर्वासना एकबारगी सम्यक्त्व-जल से धुलती नहीं

भावार्थ—जिस प्रकार मल-मूत्र का घड़ा चिर काल से दुर्गन्धित होने के कारण अपनी दुर्वासना को नहीं छोड़ता, उसी प्रकार ज्ञानामृत रूपी सम्यक्त्व जल से धोने पर भी मनुष्य अपनी दुर्वासनाओं को सहसा नहीं छोड़ता ।

१. °यं णाणम्मेएण 'त्र' । °महिय णाणम्मिएण 'प' । °वियणाणामिएण 'अ' 'फ' 'म' 'व' ।

मलमुत्तघडव्वचिरं वासिय दुव्वासणं ण मुंचेइ ।
पक्खालिय सम्मत्तजलो यण्णाणम्मएण[1] पुण्णो वि ।।१२२।।

मलमूत्रघटवत् चिरवासितां दुर्वासनां न मुंचति ।
प्रक्षालितसम्यक्त्वजलो यज्ज्ञानामृतेन पूर्णोऽपि ।।१२२।।

शब्दार्थ

मलमुत्त—मल-मूत्र (के); घडव्व—घड़े की भाँति (जो); चिरं—चिर काल (से); वासिय—दुर्गन्धित (है अपनी); दुव्वासणं—दुर्वासना को; ण—नहीं; मुंचेइ—छोड़ता (है); (इसी प्रकार) यण्णाणम्मएण—जो ज्ञानामृत से; पुण्णो—पूर्ण (है); सम्मत्तजलो—सम्यक्त्व जल (से); पक्खालिय—प्रक्षालित (होने पर); वि—भी; (दुर्वासनाओं को नहीं छोड़ता)।

दुर्वासना एकबारगी सम्यक्त्व-जल से धुलती नहीं

भावार्थ—जिस प्रकार मल-मूत्र का घड़ा चिर काल से दुर्गन्धित होने के कारण अपनी दुर्वासना को नहीं छोड़ता, उसी प्रकार ज्ञानामृत रूपी सम्यक्त्व जल से धोने पर भी मनुष्य अपनी दुर्वासनाओं को सहसा नहीं छोड़ता ।

---

१. °यं णाणम्मेएण 'व' । °महिय णाणम्मिएण 'प' । °वियणाणामिएण 'अ' 'फ' 'म' 'व' ।
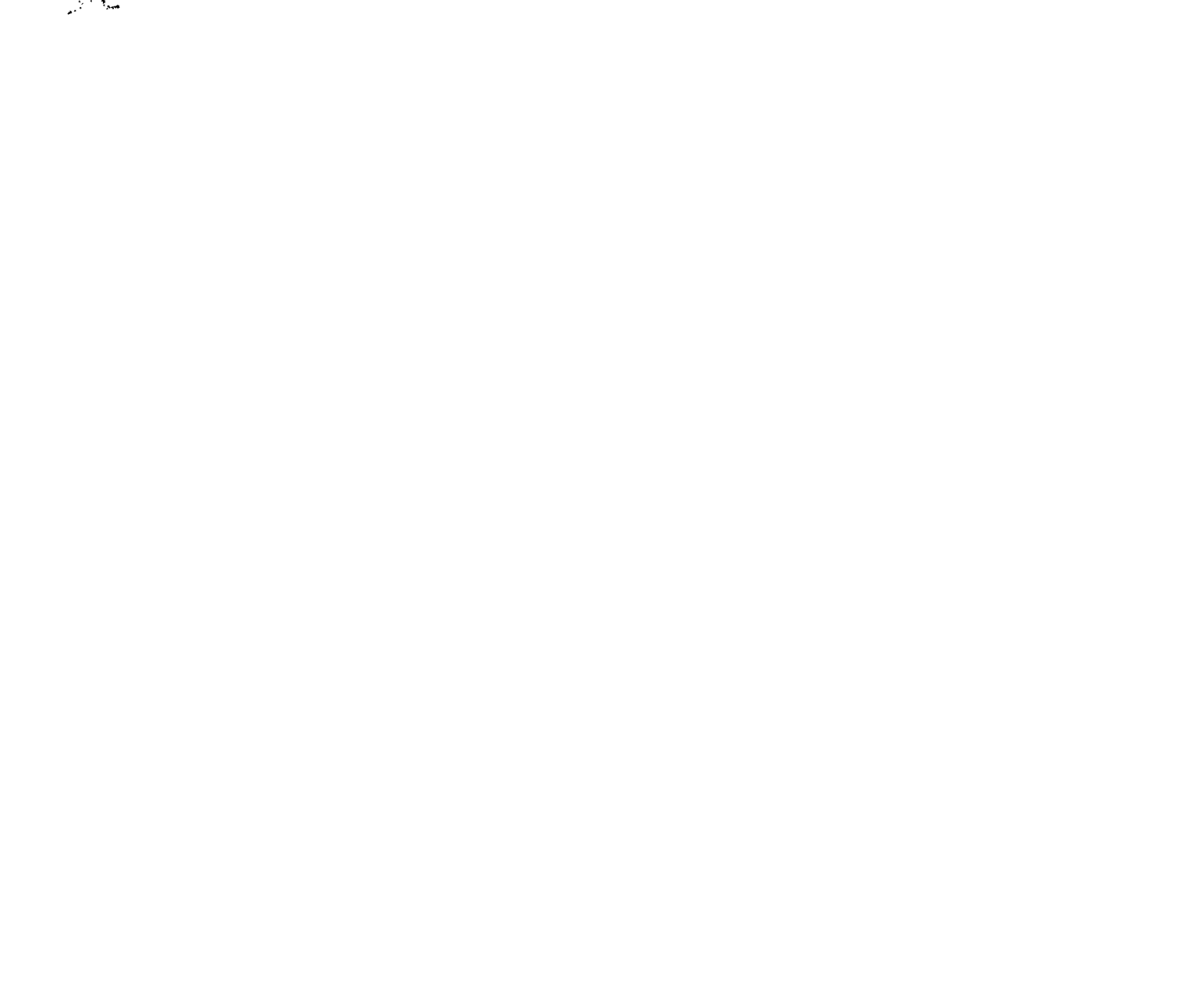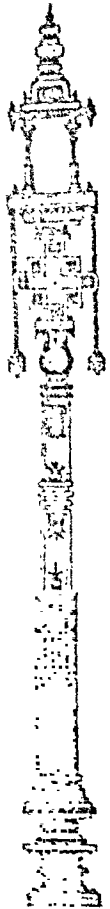
मोक्खगइगमणकारणभूयाणि' पसत्थपुण्णहेऊणि ।
ताणि हवे दुविहप्पा वत्थुसरूवाणि भावाणि ॥१२६॥

मोक्षगतिगमनकारणभूताः प्रशस्तपुण्यहेतवः ।
ते भवन्ति द्विविधात्मनः वस्तुस्वरूपाः भावाः ॥१२६॥

शब्दार्थ

(जो) **मोक्खगइ**—मोक्ष गति (में); **गमणकारणभूयाणि**—गमन के कारणभूत (हैं और); **पसत्थ-पुण्ण**—प्रशस्त पुण्य (के); **हेऊणि**—हेतु (हैं); **ताणि**—वे; **वत्थुसरूवाणि**—वस्तुस्वरूप (आत्म-रूप); **दुविहप्पा**—दो प्रकार आत्मा (के); **भावाणि**—भाव; **हवे**—हैं ।

अन्तर्मुखी भाव मुक्ति के हेतु हैं

भावार्थ—जो मोक्षगति के लिए गमन में कारण हैं और प्रशस्त पुण्य के हेतु हैं, वे ही दो प्रकार के अन्तरात्मा और परमात्मा भाव आत्मरूप से कहे गए हैं ।

१. °भूदाणि 'ग' ।
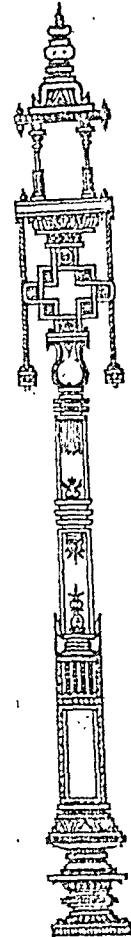
वहिरंतरप्पभेयं परसमयं भण्णए जिणिंदेहिं ।
परमप्पा[1] सगसमयं तब्भेयं जाण[2] गुणट्ठाणे ।।१२८।।

वहिरन्तरात्मभेदः परसमयो भण्यते जिनेन्द्रैः ।
परमात्मा स्वकसमयः तद्भेदं जानीहि गुणस्थाने ।।१२८।।

शब्दार्थ

जिणिंदेहि—जिनेन्द्रदेव के द्वारा; वहिरंतरप्पभेयं—वहिरात्मा (और) अन्तरात्मा भेद (से); पर-समयं—पर-समय; भण्णए—कहा गया (है); सगसमयं—स्व-समय को; परमप्पा—परमात्मा (और); तब्भेयं—उसके भेद को; गुणट्ठाणे—गुणस्थानों में; जाण—जानो ।

स्वसमय परमात्मा है

भावार्थ—आत्मा के भाव स्वाभाविक और वैभाविक दोनों माने गए हैं । वैभाविक भावों से युक्त जीव वहिरात्मा और अन्तरात्मा होता है । अशुभ भाव वाले जीव वहिरात्मा और शुभभाव वाले जीव अन्तरात्मा कहलाते हैं। ये दोनों ही पर-समय हैं। स्वसमय तो परमात्मा है । इनके भेद गुणस्थानों के अनुसार समझना चाहिए ।

---

१. परमप्पो 'घ' । २. जाणए 'अ' 'प' 'फ' 'व' 'म' 'व' ।

मूढत्तय सल्लत्तय दोसत्तय दंडगारवत्तयेहिं[1] ।
परिमुक्को जोई सो सिवगइपहणायगो[2] होई ।।१३०।।

मूढत्रयशल्यत्रयदोषत्रयदण्डगारवत्रयैः ।
परिमुक्तो योगी सः शिवगतिपथनायको भवति ।।१३०।।

शब्दार्थ

(जो) जोई—योगी; मूढत्तय—तीन मूढ़ता; सल्लत्तय—तीन शल्य; दोसत्तय—तीन दोष; दंड-गारवत्तयेहिं—तीन दंड (और तीन) गारवों (मदों) से; परिमुक्को—परिमुक्त (रहित) (होता है); सो—वह; सिवगइ—शिवगति (का); पहणायगो—पथनायक (मोक्षमार्ग का नेता); होई—होता (है)।

शिवगति-पथनायक

भावार्थ—जो योगी देव, गुरु और लोक में अन्धविश्वास, माया, मिथ्यात्व तथा निदान शल्य, राग, द्वेष और मोह दोष से रहित एवं तीन दण्डों व तीन मदों से रहित होता है, वही मुक्तिमार्ग का नेता होता है।

१. °दंडगारवत्तेहिं 'ब' 'ज' 'म' 'ब'। °दोसत्तय दंडत्तय सल्लगारवत्तेहिं 'ज'।
२. °सिवगइपयणायगो 'म' 'ब'।

बहिरब्भंतरगंथविमुक्को सुद्धोवजोयसंजुत्तो[1] ।
मूलुत्तरगुणपुण्णो सिवगइपहणायगो होई ॥१३२॥

बहिरभ्यन्तरग्रंथमुक्तः शुद्धोपयोगसंयुक्तः ।
मूलोत्तरगुणपूर्णः शिवगतिपथनायको भवति ॥१३२॥

शब्दार्थ

बहिरब्भंतर—बाहरी (और) भीतरी; गंथ—परिग्रह (से); विमुक्को—विमुक्त (तथा); सुद्धोवजोय—शुद्धोपयोग (से); संजुत्तो—संयुक्त (एवं); मूलुत्तरगुणपुण्णो—मूल (गुण) उत्तर (गुण से) पूर्ण (युक्त); सिवगइ—शिवगति (का); पहणायगो—पथनायक (मोक्ष मार्ग का नेता); होई (होता (है)।

और भी

भावार्थ—जो बहिरंग-अन्तरंग परिग्रह को छोड़ कर शुद्धोपयोग में लीन रहते हैं तथा जो साधु मूलगुण और उत्तरगुणों से संयुक्त होते हैं, वे मोक्षमार्ग के नेता होते हैं।

१. °विसुद्धोवजोयभावत्तो 'त'।

किं बहुणा हो देविंदाहिंद णरिंदगणहरिंदेहिं ।
पुज्जा परमप्पा जे तं जाण पहाव[1] सम्मगुणं[2] ॥१३४॥

किं बहुना अहो देवेन्द्राहीन्द्रनरेन्द्रगणधरेन्द्रैः ।
पूज्या: परमात्मानो ये तज्जानीहि प्रभावसम्यक्त्वगुणम् ॥१३४॥

शब्दार्थ

हो—अहो !; बहुणा—बहुत (कहने से); किं—क्या; जे—जो; परमप्पा—परमात्मा; देविंदाहिंद—देवेन्द्र, नागेन्द्र; णरिंदगणहरिंदेहिं—नरेन्द्र (और) गणधरेन्द्रों से; पुज्जा—पूज्य (हैं); तं—उसे; सम्मगुणं पहाव—सम्यक्त्व गुण (का) प्रभाव; जाण—जानो ।

सम्यक्त्व का प्रभाव

भावार्थ—अहो ! अधिक कहने से क्या लाभ? जो परमात्मा देवेन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र और गणधरेन्द्रों से पूज्य हैं, वह सब सम्यक्त्व गुण का प्रभाव जानना चाहिए ।

१. °पहण 'ब' । °पहाण 'अ' 'प' 'फ' 'ब' । २. °संजाणइ पहाण सम्मगुणं 'ग' ।

उवसमइ[1] सम्मत्तं मिच्छत्तबलेण पेल्लए[2] तस्स ।
परिवट्टंति[3] कसाया अवसप्पिणिकालदोसेण ॥१३६॥

उपशामकं सम्यक्त्वं मिथ्यात्वबलेन प्रेरयति तस्य ।
प्रवर्तन्ते कषाया: अवसर्पिणीकालदोषेण ॥१३६॥

शब्दार्थ

अवसप्पिणि—अवसर्पिणी; कालदोसेण—काल (के) दोष से (तथा); मिच्छत्तबलेण—मिथ्यात्व (के) बल (उदय) से; तस्स—उसके (द्वारा); पेल्लए—प्रेरित होने पर; (इस जीव के); सम्मत्तं—सम्यक्त्व; उवसमइ—उपशम (समाप्त) हो जाता (है); (और); कसाया—कषाय; परिवट्टंति—प्रवर्तित हो जाती (हैं)।

कर्मोदय से विकृति

भावार्थ—वर्तमान अवसर्पिणी काल के दोष से तथा मिथ्यात्व के उदय से प्रेरित हुए इस जीव के सम्यक्त्व का उपशमन हो जाता है और कषाय पुनः उत्पन्न हो जाती हैं।

१. ०उवसमइ 'घ' 'व'। ०उवसम्मइ 'अ' 'ग'। २. ०पेल्लइ 'प'। ०पेल्लए 'व'।
३. ०परिवड्ढंति 'म' 'व'।

णाणेण झाणसिज्झी[1] झाणादो सव्वकम्मणिज्जरणं ।
णिज्जरणफलं मोक्खं णाणब्भासं तदो कुज्जा ॥१३८॥

ज्ञानेन ध्यानसिद्धिर्ध्यानतः सर्वकर्मनिर्जरणम् ।
निर्जराफलं मोक्षः ज्ञानाभ्यासं ततः कुर्यात् ॥१३८॥

शब्दार्थ

णाणेण—ज्ञान से; झाणसिज्झी—ध्यान-सिद्धि (होती है और); झाणादो—ध्यान से; सव्वकम्म-णिज्जरणं—सब कर्मों (की) निर्जरा (होती है); णिज्जरणफलं—निर्जरा (का) फल; मोक्खं—मोक्ष (है); तदो—इसलिये; णाणब्भासं—ज्ञानाभ्यास; कुज्जा—करना चाहिए।

ज्ञानाभ्यास से मुक्ति

भावार्थ—आत्म-कल्याण के लिए ज्ञान प्रमुख है। क्योंकि ज्ञान से ध्यान की सिद्धि होती है और ध्यान से समस्त कर्मों की निर्जरा होती है। निर्जरा का फल मुक्ति की उपलब्धि है। इसलिए सतत ज्ञानाभ्यास करना चाहिए।

१. °सिद्धी 'अ' 'ज' 'ब' 'प' 'फ' 'व'। °सिद्धि 'म' 'व'।

कालमणंतं जीवो मिच्छत्तसरूवेण¹ पंचसंसारे ।
हिंडदि² ण लहइ³ सम्मं संसारब्भमणपारंभो ।।१४०।।

कालमनन्तं जीवो मिथ्यात्वस्वरूपेण पंचसंसारे ।
हिण्डते न लभते सम्यक्त्वं संसारभ्रमणप्रारंभः ।।१४०।।

शब्दार्थ

जीवो—जीव; मिच्छत्तसरूवेण—मिथ्यात्वस्वरूप (होने) से; कालमणंतं—अनन्त काल (तक); पंचसंसारे—पंच परावर्तन (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव) संसार में; हिंडदि—भ्रमण करता है (और); सम्मं—सम्यक्त्व; ण—नहीं; लहइ—प्राप्त करता (है) (इससे); संसारब्भमण—संसार (का) भ्रमण; पारंभो—बना रहता (है)।

सम्यक्त्व न होने से संसार-भ्रमण

भावार्थ—यह जीव मिथ्यात्व से लिप्त होने के कारण आत्मस्वरूप को प्राप्त नहीं करता और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव तथा भाव में संक्रमण करता हुआ संसार में भ्रमण करता रहता है। संसार-परिभ्रमण का निवारण सम्यक्त्व से होता है। किन्तु यह सम्यक्त्व प्राप्त नहीं करता, इसलिए इसका संसार-परिभ्रमण बना रहता है।

१. °मिच्छसरूवेण 'म' 'व'। २. °हिंडइ 'म' 'व'। ३. °लहदि 'ग'।

किं बहुणा वयणेण[1] दु[2] सव्वं दुक्खेव[3] सम्मत्तविणा ।
सम्मत्तेण संजुत्तं[4] सव्वं सोक्खेव जाण खु[5] ॥१४२॥

किं बहुना वचनेन तु सर्वं दुःखमेव सम्यक्त्वं विना ।
सम्यक्त्वेन संयुक्तं सर्वं सौख्यमेव जानीहि खलु ॥१४२॥

शब्दार्थ

बहुणा—बहुत; वयणेण—वचन (कहने) से; किं—क्या (लाभ); सम्मत—सम्यक्त्व (के); विणा—विना; दु—तो; सव्वं—सब; दुक्खेव—दुःख ही (है); खु—निश्चय (ही); सम्मत्तेण—सम्यक्त्व से; संजुत्तं—संयुक्त; सव्वं—सब; सोक्खेव—सुख ही; जाण—जानो।

और

भावार्थ—अधिक कहने से क्या लाभ है? विना सम्यक्त्व के तो सब दुःख ही है। निश्चय से सम्यक्त्व सहित होने पर ही सब सुख जानना चाहिए।

---

१. °वत्तणेण 'अ' 'ग' 'घ' 'प' 'फ' 'ब' 'व' । २. °तु 'ग' 'घ' 'व' । ३. °दुक्खं च 'ग'।
४. °विजुत्तं 'अ' 'प' 'फ' 'व' । ५. °तु 'अ' 'ग'।

वसदी[1] पडिमोवयरणे[2] गणगच्छे समयसंघजाइकुले ।
सिस्सपडिसिस्सछत्ते सुयजाते[3] कप्पडे पुत्थे ॥१४४॥
पिच्छे संत्थरणे[4] इच्छासु[5] लोहेण कुणइ[6] ममयारं ।
यावच्च अट्टरुद्दं[7] ताव ण मुंचेदि[8] ण हु सोक्खं ॥१४५॥

वसति प्रतिमोपकरणे गणगच्छे समयसंघजातिकुले ।
शिष्यप्रतिशिष्यच्छात्रे सुतजाते कर्पटे पुस्तके ॥१६१॥
पिच्छिकायां संस्तरे इच्छासु लोभेन करोति ममकारं ।
यावच्च आर्तरौद्रं तावन्न मुच्यते न हि सुखं ॥१६२॥

शब्दार्थ

(यदि साधु) वसदी—वसतिका (वस्ती); पडिमोवयरण—प्रतिमोपकरण में; गणगच्छे—गणगच्छ में; समयसंघ—शास्त्र, संघ; जाइकुले—जाति-कुल में; सिस्सपडिसिस्सछत्ते—शिष्य, प्रतिशिष्य, छात्र में; सुयजाते—सुत, प्रपौत्र में; कप्पडे—कपड़े में; पुत्थे—पोथी; (पुस्तक) में; पिच्छे—पीछी में; संत्थरणे—संस्तर (विस्तर) में; इच्छासु—इच्छाओं में; लोहेण—लोभ से; ममयारं कुणइ—ममत्व करता है; यावच्च—और जब तक; अट्टरुद्दं—आर्त-रौद्र (ध्यान); ण मुंचेदि—नहीं छोड़ता है; ताव सोक्खं ण हु—तब तक सुख नहीं (होता) है।

इच्छाओं से सुख नहीं

भावार्थ—जब तक व्यक्ति को संसार के पदार्थों की इच्छा है, तब तक उसे मोक्ष का सुख प्राप्त नहीं हो सकता।

१. °वसइ 'अ' 'घ' 'प' 'क' 'ब' 'व'। °वसइं 'म'। २. °पडिमोउवयरणे 'घ' 'म' 'व'। ३. °जादि 'ब'। °जात 'अ' 'क' 'ब'। ४. °सत्थरणे 'म' 'ब'। ५. °इच्छाइसुहेण 'म'। ६. °कुणय 'घ'। ७. °तावच्च वट्टद्दं 'अ' 'घ' 'प' 'क' 'ब'। °यावरावट्टद्दं 'म'। °यावच्च वट्टद्दं

धम्मज्झाणब्भासं करेइ[1] तिविहेण भाव[2]सुद्धेण ।
परमप्पझाणं[3] चेतो[4] तेणेव खवेइ कम्माणि ॥१४१॥

धर्मध्यानाभ्यासं करोति त्रिविधेन भावशुद्धेन ।
परमात्मध्यानं चित्तो तेनैव क्षपयति कर्माणि ॥१४१॥

शब्दार्थ

(यदि) **तिविहेण**—मन, वचन, काय (तथा); **भावसुद्धेण**—भाव की शुद्धिपूर्वक; **धम्मज्झाणब्भासं**—धर्म ध्यान का अभ्यास; **करेइ**—करता है (तो); **तेणेव**—उसी से; **परमप्पझाणं चेतो**—(शुक्ल) (श्रेष्ठ) ध्यान में (लगा हुआ) चित्त; **कम्माणि**—कर्मों का; **खवेइ**—क्षय करता है।

धर्मध्यान से परमात्मा

भावार्थ—जब साधक मन, वाणी और देह की शुद्धि करके धर्मध्यान (शुद्ध आत्मा का ध्यान) का अभ्यास करता है तब उसी ध्यान से शुक्ल (श्रेष्ठ) ध्यान में संलग्न हो कर्मों का क्षय कर देता है।
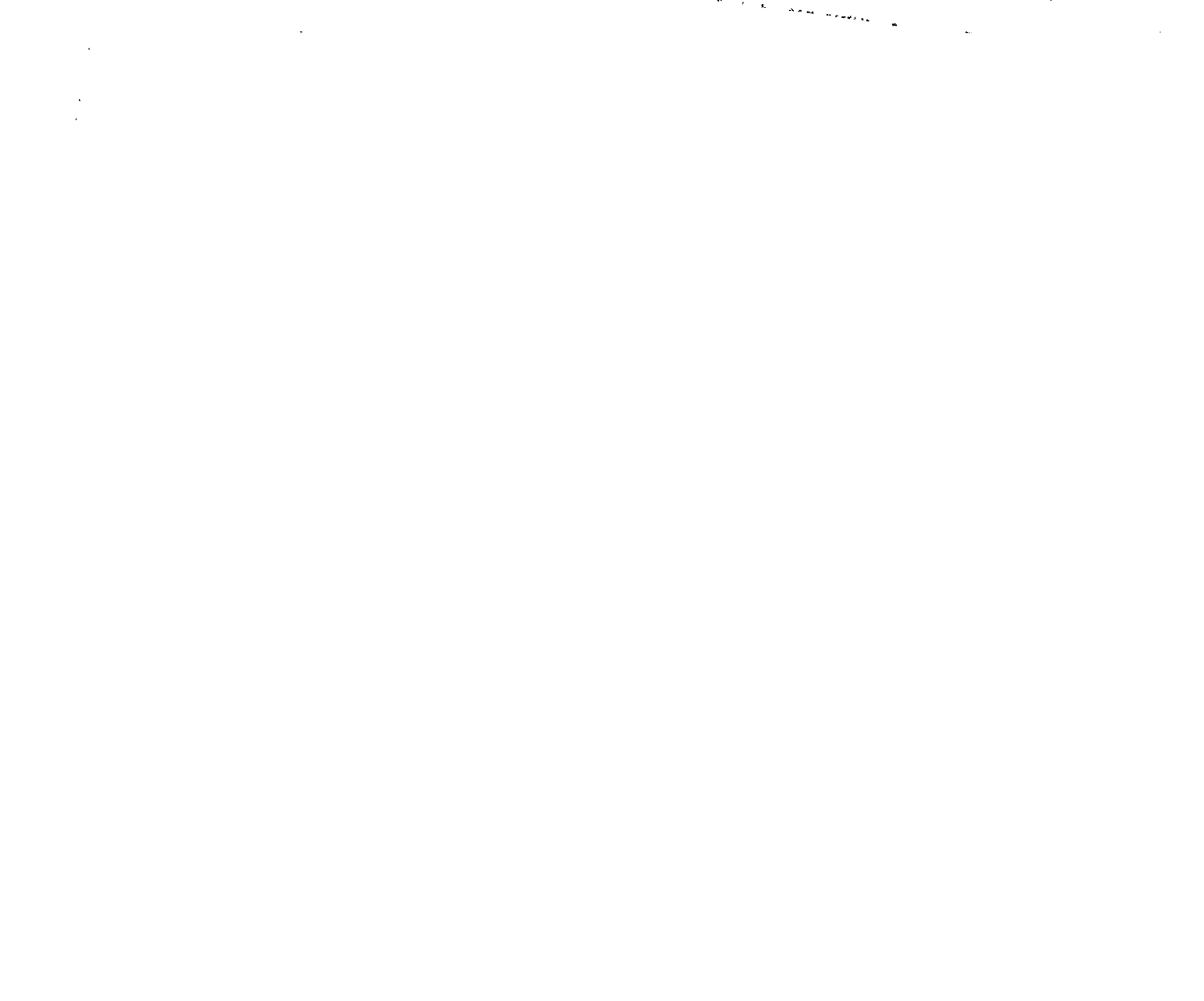
---

१. ०करेहि 'म'। २. ०जाव 'अ' 'ज' 'प' 'व'। ३. ०परमप्पज्झाण 'व'। ४. ०चेट्ठो 'ध' 'क'। ०जेट्ठो 'म'।

कामदुहिं कप्पतरुं चिंतारयणं रसायणं परमं[1] ।
लद्धो भुंजइ सोक्खं जं इच्छियं[2] जाण तह सम्मं ।।१५१।।

कामदुहं कल्पतरुं चिन्तारत्नं रसायनं परमम् ।
लब्ध्वा भुंक्ते सुखं यदेच्छ, जानीहि सम्यक्त्वम् ।।१५१।।

शब्दार्थ

(जिस प्रकार) कामदुहिं—कामधेनु; कप्पतरुं—कल्पवृक्ष; चिंतारयणं—चिन्तामणि रत्न (और); परमं—श्रेष्ठ; रसायणं—रसायन (को); लद्धो—प्राप्त (कर); जं—जो; इच्छियं—इच्छित; सोक्खं—सुख को; भुंजइ—भोगता है; तह—उसी (प्रकार से); सम्मं—सम्यग्दर्शन (को); जाण—जानो।

सम्यक्त्व से कामना-सिद्धि

भावार्थ—जैसे कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिन्तामणि रत्न और श्रेष्ठ रसायन मनवांछित फल को प्रदान करते हैं, वैसे ही सम्यग्दर्शन से अभिलषित सुख की प्राप्ति होती है।

१. °य मसं 'क'। °रसपरमं 'अ' 'ब' 'प' 'फ'। २. °जइच्छयं 'म'। °जइच्छियं 'ब'। °जं इच्छियं 'अ' 'ब' 'प' 'फ'।

रयणत्तयमेव गणं गच्छं गमणस्स¹ मोक्खमग्गस्स ।
संघो गुण संघादो² समयो खलु णिम्मलो अप्पा ॥१५३॥

रत्नत्रयमेव गणः गच्छः गमनस्य मोक्षमार्गस्य ।
संघो गुणसंघातः समयः खलु निर्मलः आत्मा ॥१५३॥

शब्दार्थ

रयणत्तयमेव—रत्नत्रय ही; गणं—गण (है); मोक्खमग्गस्स—मोक्षमार्ग का (में); गमणस्स—गमन; गच्छं—गच्छ (है); गुणसंघादो—गुण-संघात (समूह); संघ—संघ (है); (और) खलु—निश्चय (से); णिम्मलो—निर्मल; अप्पा—आत्मा; समयो—समय (सम्यक् रूप से गमन) (है)।

निर्मल आत्मा रत्नत्रय है

भावार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय ही गण है, मोक्ष-मार्ग में गमन गच्छ है, गुणों का समूह संघ है और निश्चय से निर्मल आत्मा समय है।

१. °गमणं हि 'ज'। °गम्मस्स 'क'। २. °संघाओ 'म' 'ब'।

इदि[1] सज्जणपुज्जं[2] रयणसारगंथं[3] णिरालसो णिच्चं ।
जो पढइ सुणइ भावइ सो[4] पावइ सासयं ठाणं[5] ॥१५५॥

इति सज्जनपूज्यं रत्नसारं ग्रंथं निरालसो नित्यम् ।
यः पठति शृणोति भावयति सः प्राप्नोति शाश्वतं स्थानम् ॥१५५॥

शब्दार्थ

इदि—इस प्रकार; सज्जणपुज्जं—सज्जनों (के द्वारा) पूज्य; रयणसारगंथं—रयणसार ग्रन्थ को; जो—जो (मनुष्य); णिरालसो—आलस्य रहित (होकर); णिच्चं—सदा (नित्य); पढइ—पढ़ता (है); सुणइ—सुनता (है); भावइ—मनन करता (है); सो—वह (मनुष्य); सासयं—शाश्वत; ठाणं—स्थान (मुक्ति); (को) पावइ—पाता (है)।

सुख-प्राप्ति में निमित्त कारण है

भावार्थ—जो मनुष्य सज्जनों के द्वारा आदरणीय इस रयणसार ग्रन्थ को निरालस होकर सदा पढ़ता है, सुनता है, मनन-चिन्तन करता है, वह शाश्वत सुख के स्थान मुक्ति को प्राप्त करता है।

१. ०इय 'प' । २. ०पुण्णं 'व' । ३. ०रयणसारं गंथं 'अ' 'ग' 'प' 'फ' 'व' । ०रयणसार गंथं 'ज' ।
४. वण्णइ भावइ 'ज' । ५. ०सासयट्ठाणं 'ज' ।

उहयगुणवसणभयमलवेरग्गाइचार–भत्तिविग्घं वा ।
एदेसत्ततरिया दंसणसावयगुणा भणिया ॥१॥

उभयगुणव्यसनभयमलवैराग्यातिचारभक्तिविघ्नानि वा ।
एते सप्तसप्तति: दर्शनश्रावकगुणा: भणिता: ॥१॥

शब्दार्थ

उहयगुण—दोनों गुण (आठ मूलगुण, बारह उत्तर गुण); वसणभयमलवेरग्गाइचार—कुटेव (सात व्यसन), भय (सात भय), मल (पच्चीस दोष) (से रहित) वैराग्य भावना (युक्त), अतिचार (रहित); वा—और; भत्तिविग्घं—विघ्न (रहित) भक्ति; एदे—ये; सत्ततरिया—सत्तर; दंसणसावय—दर्शन (सम्यग्दृष्टि श्रावक के); गुणा—गुण; भणिया—कहे गए हैं।

सम्यग्दृष्टि श्रावक के गुण

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि श्रावक के आठ प्रकार के मूलगुण और बारह प्रकार के उत्तर गुण कहे गए हैं। ऐसा श्रावक सात व्यसन, सात भय, पच्चीस दोष और पाँच प्रकार के अतिचारों से रहित तथा वैराग्यभावना एवं निर्विघ्न भक्ति से युक्त होता है। ये सत्तर गुण सम्यग्दृष्टि श्रावक के कहे गए हैं।

णिरयतिरियाइदुग्गदलिद्दवियलंगहाणिदुक्खाइं ।
देवगुरुसत्थवंदण-सुयभेय-सज्झायविघफलं ॥३॥

नरकतिर्यग्गतिदुर्गतिदारिद्र्यविकृताङ्गहानिदुःखानि ।
देवगुरुशास्त्रवन्दना-श्रुतभेद-स्वाध्यायविघ्नफलं ॥३॥

शब्दार्थ

णिरयतिरियाइ—नरक, तिर्यंच (गति); दुग्गइ—दुर्गति; दलिद्द—दरिद्र; वियलंग—विकलांग; हाणि—हानि; दुक्खाइं—दुःख; देवगुरुसत्थवंदण—देव (वन्दन), गुरु (वन्दन), शास्त्र-वन्दन; सुयभेय—श्रुतभेद (और); सज्झाय—स्वाध्याय (में); विघफलं—विघ्न (का) फल (है)।

स्वाध्याय में विघ्न डालने से

भावार्थ—जो मनुष्य सच्चे देव, शास्त्र, गुरुओं में दोष लगाते हैं और शास्त्र-स्वाध्यायादि में विघ्न डालते हैं, वे नरक, तिर्यंच आदि दुर्गतियों में जाते हैं और दरिद्र, हीन अंग वाले होकर तरह-तरह की हानि व दुःख भोगते हैं।
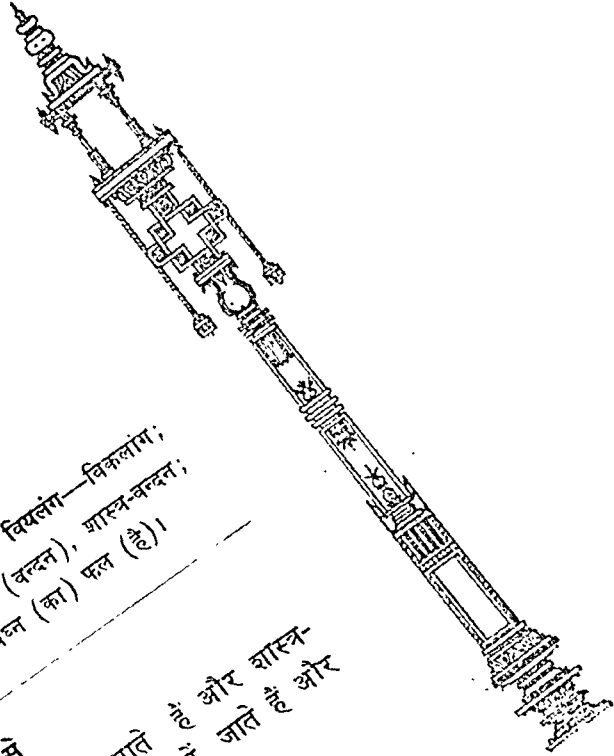
कतकफलभरियणिम्मल जलं ववगय कालिया सुवण्णं च[1] ।
मलरहिय सम्मजुत्तो भव्ववरो लहइ लहु मोक्खं ॥५॥

कतकफलभृतनिर्मलं जलं व्यपगतकालिकं सुवर्णं च ।
मलरहितसम्यक्त्वयुतो भव्यवरो लभते शीघ्रं मोक्षम् ॥५॥

शब्दार्थ

कतकफल—निर्मली (से); भरिय—भरित (युक्त); णिम्मल जलं—निर्मल जल (की भाँति) (और); ववगय—दूर हो गई (है); कालिया—कालिमा (जिससे ऐसे); सुवण्णं—स्वर्ण (के समान); मलरहिय—मल रहित (निर्दोष); सम्मजुत्तो—सम्यग्दर्शन युक्त; भव्ववरो—भव्योत्तम (प्राणी); लहु—शीघ्र; मोक्खं—मोक्ष को; लहइ—प्राप्त करता (है)।

आत्म-विशुद्धि

भावार्थ—जिस प्रकार निर्मली डालने से पानी निर्मल हो जाता है, अग्नि और सुहागा के संयोग से स्वर्ण शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार निर्दोष सम्यग्दर्शन से युक्त भव्य जीव शीघ्र ही निर्मल आत्मा को अर्थात् मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

---

१. सुवण्णच 'ग' 'व'।

सम्मत्तगुणाइ सुगइ मिच्छादो होइ दुग्गई णियमा।
इदि जाण किमिह बहुणा जं ते रुच्चइ तं कुणहो ।।७।।

सम्यक्त्वगुणतः सुगतिः मिथ्यात्वतो भवति दुर्गतिर्नियमात् ।
इति जानीहि किमिह बहुना यत्तुभ्यं रोचते तत्कुरु ।।७।।

शब्दार्थ

सम्मत्तगुणाइ—सम्यक्त्व गुण से; सुगइ—स्वर्ग गति (और); मिच्छादो—मिथ्यात्व से; णियमा—नियम से; दुग्गई—दुर्गति; होइ—होती (है); इदि—ऐसा; जाण—जान (कर); इह—यहाँ; बहुणा—अधिक (कहने से); किं—क्या (लाभ); जं—जो; ते—तुझे; रुच्चइ—अच्छा लगता (है); तं—वह; कुणहो—कर।

विवेकपूर्वक करें

भावार्थ—सम्यग्दर्शन से सद्गति मिलती है और मिथ्यादर्शन (अज्ञानता) से नियम से दुर्गति मिलती है। अतः यह जानकर अधिक कहने से क्या लाभ ? जो रुचे वह करना चाहिए।

चम्मट्ठिमंसलवलुद्धो सुणहो गज्जए मुणिं दिट्ठा ।
जह पाविट्ठो सो धम्मिट्ठं दिट्ठा सगीयट्ठा ।।१।।

चर्मास्थिमांसलवलुब्धः शुनकः गर्जति मुनिं दृष्ट्वा ।
यथा पापिष्ठः स धर्मिष्ठं दृष्ट्वा स्वकीयार्थः ।।१।।

शब्दार्थ

जह—जैसे; **चम्मट्ठिमंसलव**—चर्म, अस्थि, मांस के खंड (का); **लुद्धो**—लोभी; **सुणओ**—श्वान (कुत्ता); **मुणिं**—मुनि को; **दिट्ठा**—देखकर; **गज्जए**—भौंकता (है); (उसी प्रकार जो) **पाविट्ठो**—पापिष्ठ (पापी) (है); **सो**—वह; **धम्मिट्ठं**—धर्मस्थित (धर्मात्मा) (को); **दिट्ठा**—देखकर; **सगीयट्ठा**—स्वार्थ (अपना मतलब); (सिद्ध करता है)।

पापी अपने जैसा देखता है

भावार्थ—जिस प्रकार चाम, हड्डी और मांस के टुकड़े का लोभी कुत्ता मुनि को देखकर भौंकता है, उसी प्रकार पापी व्यक्ति धर्मात्मा को देखकर स्वार्थवश उससे लड़ाई-झगड़ा करता है।

सम्माइगुणविसेसं पत्तविसेसं जिणेहि णिद्दिट्ठं ।
तं जाणिऊण देइसु दाणं जो सोउ मोक्खरओ ।।११।।

सम्यक्त्वादिगुणविशेषः पात्रविशेषो जिनैर्निर्दिष्टः ।
तं ज्ञात्वा दीयतां दानं यः सोऽपि मोक्षरतः ।।११।।

शब्दार्थ

(जिस में) **सम्माइ**—सम्यक्त्वादि; **गुणविसेसं**—गुण विशेष (हैं); **जिणेहि**—जिनेन्द्रदेव के द्वारा (वह) **पत्तविसेसं**—पात्र विशेष; **णिद्दिट्ठं**—कहा गया (है); **जो**—जो (व्यक्ति); **तं**—उसे; **जाणिऊण**—जानकर; **दाणं**—दान; **देइसु**—दिया जाता (देता है); **सोउ**—वह भी; **मोक्खरओ**—मोक्ष में रत (होता है)।

तथा

भावार्थ—जो सम्यक्त्व आदि गुणों से युक्त हैं, वे विशेष पात्र हैं, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। जो इन विशेष पात्रों को दान देता है, वह भी मोक्ष मार्ग में अनुरक्त है।

देतें दान सुपात्र हुइ भोगभूमि सुरभोग।
अनुक्रम तें निरवाण सुख यह जिनकथन-नियोग।१५।
इह निज वित सुबीज जो वपें जिनमत सतखेत।
सो त्रिभुवन को राजफल भोग तीर्थंकर हेत।१६।
ज्यों सुखेत सुभकाल जो वपें बीज फलपूर।
त्यों पात्र विशेष फल जानि सुदान अंकूर।१७।
मात पिता सुत मित्र तिय धन पट वाहन मेव।
विभवसार संसार सुख जानि पात्रवत देव।१८।
सप्त राज-अंग निद्धि नव कोष अंग पट सेनु।
रतन दुसत तिय छिनवसहस जानि पात्रदानेनु।१९।
सुकुल रूप लच्छन सुमति सिच्छा सुगुण सुशील।
सुभ चरित्र सब अक्ष-सुख विभव पात्रवत लील।२०।
जो मुनि भोज विसेस मुद भास्यो जिनवरदेव।
भोगि सार संसार सुख अनुक्रम सिवसुख हेव।२१।
सीत-उसन अथवा विपुल सिलेष्म परिश्रम व्याधि।
कायकिलेस उपवास जुत जिनहिं दान आराधि।२२।
हित मित भोजन पान भखि रहत निराकुल थान।
सज्या आसन उपकरन जो दे शिवसुख मान।२३।
अनगारहु वैयावरत करें जथा जो नित।
मात-पिता जैसे गरभ पाल निरालस चित।२४।

सतपुरुषन के दान की सुरतरु सुफल सुशोभ।
लोभी जन को दान ज्यों शव-विमान सम शोभ।२५।
जस-कीरति शुभ लाभ को जह तह बहुतक देहिं।
भाजन सुगुण सुपात्र को नहिं विशेष जानेहिं।२६।
जंत्र-मंत्र-तंत्रह प्रवृत्ति पक्षपात प्रिय बैन।
पढ्व काल पंचम भरत दान मोक्ष कछु है न।२७।
दानी के दारिद्र किम लोभी महं ईसत्व।
इह न पूर्वकृत कर्मफल होत विपाक महत्व।२८।
धन-धान्यादि समृद्धि सुख ज्यों सब जीवन होय।
त्यों मुनिदानहिं ते सकल सुख तिहिं विन दुख लोय।२९।
पात्र विना व्रत सुपुत्र विन बहुधन अरु यह खेत।
चित विना व्रत गुण चरित जानि अकारज एत।३०।

अरिल्ल

जिन-उद्धार प्रतिष्ठ पूज जिन की करें,
वंदन तीर्थ विशेष जास धन को हरें।
भुंजे भोग अयान काज धर्म नहिं करें,
कहै जिनेश सो पुरुष नरक के दुख भरें।३१।

दोहा

पुत्र कलत्र विना दलिद्र पंगु मूक बहिरांध।
चांडालादि कुजाति हुइ मह दत धनहर मुंध।३२।

अशुभ भाव तें नरकगति शुभतें सुरग-सुख आव।
दुख-सुख भावहुं जाजि तुव ह्वै सुकरि अनुराव।५२।

हिंसादिक क्रोधादि अरु मृषा ज्ञान पक्षपात।
अतिनिंदरा दुर्संव मच्छर अशुभ लेसि विख्यात।५३।

अस्तिकाय पण द्रव्य षट् तत्त्व सात नव भाव।
बंध मोक्ष कारण तरूप द्वादश भावन ध्याव।५४।

रत्नत्रयहिं स्वरूप अरु आरिज दयादिधर्म।
एते मारग वर्तई सो शुभ भाव सुशर्म।५५।

द्रव्यलिंग धरि परिहर्‌यो बाहिज इंद्रिय सुख।
क्रिया-कर्म करि मरि जनमि बहिरातम सहि दुख।५६।

मोक्ष निमित दुख वहै तन दंडी दिठि परलोक।
मिथ्याभाव न छोजई किम पावइ शिव-लोक।५७।

नहिं दंड क्रोधादि तन दंड खिपे किम कर्म।
जैसे नाग कहा मुवे लोक बांवि हन मर्म।५८।

उपशम तप भावहुं जुगत तावत संजम ज्ञान।
ज्ञानी भयो कषाय वश ताव असंजम थान।५९।

ज्ञानी त्यंप ज्ञानबल कर्मन इतर अज्ञानि।
पीजे भेषज जानि यह व्याधिनाश इत मानि।६०।

मिथ्यामल शोधन प्रथम समकित भेषज सेव।
पीछें सेवइ कर्म-रुज नासन चारित भेव।६१।

अज्ञानी विषयविरत अरु कषाय बिन होइ।
तातें ज्ञानी विषयजुत जिन कहि लख गुण सोइ।६२।

विनय भक्ति बिन रुदन त्रिय बिना नेह ज्यों कोइ।
त्यों गृहत्याग विराग बिन दुठचरित्र यह होइ।६३।

सुभट सत्त्व बिन कामिनी बिन सुहाग सोभंत।
संयम ज्ञान विराग बिन ज्यों मुनि कछु न लहंत।६४।

वस्तुपूर लोभी मुगध जो पीछे फल लेत।
जो अज्ञान विषया रहित लाभइ जानहु एत।६५।

वस्तु सहित ज्ञानी सुपत-दान यथा फल लेत।
ज्ञान सहित विषया रहित लाभहिं जानहु एत।६६।

भू-स्वर्ण तिय लोभ अहि विषहारण किम होइ।
सम्यकज्ञान विराग सह मंत्र जिनोक्त सोइ।६७।

प्रथम पंचेंद्रिय मन वचन काय हस्त पद मुंडि।
पीछे सिर मुंडन करहु तिम सिव होइ अखंडि।६८।

वाम भृत्य पति-भक्ति बिन जिन श्रुतभक्ति न जैन।
गुरु भक्ति बिन शिष्य लग जिय दुर्गति गत ऐन।६९।

गुरु भक्ति बिना शिष्य करन सर्व संग विरतानि।
ऊसर धरि वय बीज सम चेष्टा सर्व सुजानि।७०।

बिन प्रधान राजा नगर देश राष्ट्र बलहीन।
गुरु भक्ति बिन शिष्य तसु चेष्टा सब हुई छीन।७१।

देहादिक अनुरत विषै लीनकषाय संजुत।
सेवत आप स्वभाव में सो मुनि समकित-मुक्त।९२।
है आरंभ धन-धान उपकरण इंछ अरु जाच।
व्रत गुण शील बिना कलहप्रिय कषाय बहुवाच।९३।
मूढ कुसील विरोध संघ गुरुकुल रहै सुछंद।
राजसेव कर जिनधरम है विरोध मुनिमंद।९४।
ज्योतिषविद्यामन्त्र उपजीवन व्यवहार वाद।
धन-धानादिक प्रतिग्रहण मुनिदूषण परमाद।९५।
जुत कषायरत पापरंभ जे परिग्रह-भरतार।
प्रवर लोक-व्यवहार ते साधु न समकित धार।९६।
इतर दर्प नहिं तहिं सकत अपनो आप महित।
जीव निमित कारिज करें ते मुनि बिन समकित।९७।
जथा लाभ लहि भुंजिए संजम ज्ञान निमित्त।
ध्यान-अध्ययन कारनैं ते मुनि शिवमगरत्त।९८।
उदर-अगनि उपशम समन भ्रामरगोचर पूरि।
जिहि प्रकार हित जानि निज तिम भुंजइ नितसूरि।९९।
रसरुधिरमज्जा-अस्थिपल-पूय-किरमि मल-मूत।
बहु दुरगंध चरम मय अशुचि अनित अचेतन जुत।१००।
दुखभाजन कारण करम भिन्न आतमा देह।
तथा धरम अनुठान विधि पोसै मुनि नहिं देह।१०१।

संजम तप ध्यानाध्ययन पडिगह गहै विज्ञान।
एतै संग्रह साधु कै वंचि सकै दुख तान।१०२।
क्रोध कलह करि जांचि कै संकलेश परिणाम।
रुद्र रोष करि भुंजिए नहिं साधु अभिराम।१०३।
छिन्नुतिरन सम जानि यह शुद्ध है धारि अहार।
तपत पिंड सम लोह तुम मुनि कर कँवलहि धार।१०४।
अविरत देश महाविरत श्रुतरुचि-तत्त्वविचार।
पात्रनु अंतर सहस्रगुण कहि जिनपति निरधार।१०५।
उपशम ध्यानाध्ययन गुण महा अवंछक विष्ट।
जे मुनि एतै गुण सहित पात्र कहै उत्कृष्ट।१०६।
नहिं जाणइ जिन सिद्ध अरु निज स्वरूप त्रिविधेहि।
सो तप तीव्र करें तऊ भ्रमें दीर्घ भव जेहि।१०७।

सोरठा

जो निहचै व्यवहार रतनत्रय जाणइ नहीं।
सो तप करइ अपार मूपारूप जिनवर कह्यौ।१०८।

दोहा

तत्त्व सकल जाणैं कहा कहा बहुत तप कीज।
जानहु समकित शुद्ध बिन ज्ञान-तपन भव बीज।१०९।
व्रत गुण शील परीषजय आवसि तप चारित्र।
ध्यानाध्ययन सम्यक्त्व बिन भवह बीज सर्वत्र। ०।

रत्नत्रय करणत्रय जोगगुप्ति त्रय शुद्धि।
सो जोतो संजुगत शिव-गतिपथनायक बुद्धि।१३०।
बहिरभ्यंतरग्रंथ बिन शुद्ध जोग संजुक्त।
मूलुत्तरगुणपूर शिव-गतिपथनायक उक्त।१३१।
जन्म जरा व्यय दुष्ट दुख अहिविष नाश करेइ।
तो समकित शिवलाभ मुनि सुनि भावइ धारेइ।१३२।
बहुरि कहा कहि इह फनिंद इंद नरिंद गणिंद।
पूज्य परम आतम कैं जे समकित प्रधान विंद।१३३।
अयोग्य भोजन जो तपत अग्निशिखा सम मानि।
जे भुंजइ जु दुशील रत्नपिंड असंजत जानि।१३४।
उपशम समकित को चले पंचतु है विख्यात।
होत प्रवर्त कषाय अवसर्पिणि दोष विख्यात।१३५।
गुणव्रत तप प्रतिमा समिक दिन छत भवि जलगाल।
दान ज्ञान दरसन चरित गृहि त्रेपन क्रिया पाल।१३६।
ज्ञान-ध्यान सिद्धि ध्यान तें कर्म निर्जरा सर्व।
निर्जरफल तें मोक्ष है ज्ञानभ्यास तुहि कर्व।१३७।

सोरठा

तप आचरण प्रवीन संयम सम वैराग्य पर।
श्रुतभावन भउ तीन तातें कर श्रुतभावना।१३८।

दोहा

काल अनन्तह जीव यह मृणा पंच संसार।
हिंडे समकित ना लहे भव-भ्रामण परकार।१३९।

सोरठा

सम्यग्दर्शन शुद्ध जीव लाभ तावत सुखी।
नहिं सम्यग्दर्शन लद्ध महादुखी तावत कह्यो।१४०।

दोहा

बहुत वचन करि कै कहा बिन समकित सब दुख।
जो समकित संयुक्त तो जानि यह सब सुख।१४१।
नय प्रमाण निक्षेप छंद लहि शब्दालंकार।
जानि पुरातन कर्म समकित बिन बहु संसार।१४२।
वसति पवित्र उपकरण गण गच्छ समय संघ जाति।
कुल शिष्य प्रतिशिष्य छात्र श्रुत जात सुपट पुय भांति।१४३।
पिंछि सांथरउ त्याग सुख लोभ करइ ममकार।
तावत आरति रुद्र न मुंचइ सुख नहिं अनगार।१४४।
महा अंध्यारो रवि मरुत मेघ महावन दाह।
परवत वज्र विनाशन समकित कर्म अथाह।१४५।
पोखि अंध्यारे गृह मधि दीपकला परगास।
समकित नग प्रज्वले दिवे तीनलोक जिनभास।१४६।

नरणभय—इहलोक, भय, परलोक, व्याधि, मरण, असंयम (अगुप्ति),
अरक्षण, आकस्मिक।

—तत्त्वार्थवार्तिक ६।२४

सप्तांगराज्य—राजा, मंत्री, मित्र, कोष, देश, किला, सैन्य।
(पाइयसद्द० 'नतंग' शब्द भगवती, औप०)

'सप्तदशमला हरिणी सुदुःखिता, वियच्चरासादितपंचसत्पदा।
भवान्तरे सा भवतिस्म जानकी, ततो वयं पंचपदेष्वधिष्ठिताः॥'

—पुण्यास्रवकथाकोष १५ (२।७१)

—कीचड़ में फंसी दुःखी हथिनी विद्याधर द्वारा पंचनमस्कार पद सुनाने
मात्र से आगामी भव में जानकी (सीता) उत्पन्न हुई। इसलिए हमें पंच
(परमेष्ठी) पद (णमोकार मंत्र) में स्थिर होना चाहिये।

सम्मद्दिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका॥ समयसार, २४३

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो॥ —भावपाहुड, ८३

गा. क्र. १३— 'भेको विवेक विकलोऽप्यजनिष्ट नाके,
दन्तैर्गृहीतकमलो जिनपूजनाय।
गच्छन् तथा गजहतो जिनसन्मतेः स,
नित्यं ततो हि जिनपं विभुमर्चयामि॥'

—पुण्यास्रव क. को. १।२

—जिन-सन्मति महावीर वर्द्धमान की समवसरण सभा में जिनपूजन
के लिए दांतों में कमल-पुष्प लेकर जाने वाला विवेकहीन मेंढक, हाथी
के पैरों तले दबकर मर गया और स्वर्ग को प्राप्त हुआ। अतः (पूजा-भाव
मात्र के महान् फल को विचार कर) मैं नित्य ही जिन-पूजन को करता हूँ।

गा. क्र. १४— 'भुक्ति मात्र प्रदाने तु का परीक्षा तपस्विनाम्।
ते सन्तः सन्त्वसन्तो वा गृही दानेन शुद्ध्यति॥'

—यशस्तिलक चम्पू, ८

"सत्पात्रेषु यथाशक्ति दानं देयं गृहस्थितैः।
दानहीना भवेत्तेषां निष्फलैव गृहस्थता॥"

—पद्मनन्दि पंच विं. ३१

'भक्त्या पूर्वमुनीनर्चेत्कुतः श्रेयोऽतिचर्चिनाम्॥'

—सागारधर्मामृत, २।६४

गा. क्र. १६— 'ख्यातः श्रीवज्रजंघो विगलिततनुका जाताः सुवनिता,
तस्य व्याघ्रो वराहः कपिकुलतिलकः क्रूरो हि नकुलः।
भुक्त्वा ते सारसौख्यं सुरनरभवने श्रीदानफलत—
स्तस्माद्दानं हि देयं विमलगुणगणैर्भव्यैः सुमुनये॥'

—पुण्यास्रव कथाकोष, ६।२४३

—प्रसिद्ध राजा वज्रजंघ, उसकी रानी, व्याघ्र, वराह, कपिकुलतिलक-
वानर और क्रू

गा. क्र. ८०– दुक्खे णज्जइ अप्पा अप्पा णाऊण भावणा दुक्खं ।
–मोक्षप्राभृत, ६५

गा. क्र. ८२– सव्वे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स ।
तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ।।
–मोक्षपाहुड, ७६

गा. क्र. ९२– 'जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि ।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ।।मोक्षपाहुड, ३१

गा. क्र. ९५– 'गुरुकुल'–मूलाचार, ८,७, प्रवचनसार, ३,७

गा. क्र. १०५– 'उत्तमपत्तं भणियं सम्मत्तगुणेण संजदो साहू ।
सम्माइट्ठी सावय मज्झिमपत्तो हु विण्णेओ ।।
णिद्दिट्ठो जिणसमये अविरदसम्मो जहण्णपत्तोत्ति ।
सम्मत्तरयणरहिओ अपत्तमिदि संपरिक्खेज्जो ।।'
आ. कुंदकुंद : द्वादशानुप्रेक्षा, १७-१८

... दंसणरहिओ मिच्छादिट्ठी हवेइ सो साहू ।

गा. क्र. ११२– 'तत्प्रतिप्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता ।
निश्चितं स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम् ।।'
–पद्मनंदिपंचविंशति, २३

गा. क्र. १२५– 'जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ सासयं सोक्खं ।।' मोक्षप्राभृत, १०६
'जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ अविचलं ठाणं ।।' भावपाहुड, १६५
'जो भावइ सुद्धमणो सो पावइ परमणिव्वाणं ।।' द्वादशानुप्रेक्षा, ९१

गा. क्र. १२८– अक्खाणि बाहिरप्पा अंतरप्पा हु अप्पसंकप्पो ।
कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो ।।
–मोक्षपाहुड, ५

गा. क्र. १३३– जो देहे णिरवेक्खो णिद्दंदो णिम्ममो णिरारंभो ।
आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं ।।
–मोक्षपाहुड, १२

गा. क्र. १३५– 'त्याज्यं मांसं च मद्यं च मधूदुम्बर पंचकम् ।
अष्टौ मूलगुणाः प्रोक्ता गृहिणो दृष्टिपूर्वकाः ।।
अणुव्रतानि पंचैव त्रिःप्रकारं गुणव्रतम् ।

गा. क्र. ६१– पंच वि इंदिय मुंडा वचमुंडा हत्थपाय मण मुण्डा ।
तणु मुंडेण वि सहिया दस मुंडा वण्णिया समये ॥
—कुन्दकुन्द : मूलाचार ३,१

गा. क्र. ३६– 'ये यजन्ते श्रुतं भक्त्या ते यजन्तेऽञ्जसा जिनम् ।
न किंचिदन्तरं प्राहुराप्ता हि श्रुत-देवयोः ।"
—आशाधर : सागार. २,४४

जो भक्तिपूर्वक शास्त्रों (ज्ञान की) की नित्य पूजा (उपासना) करते हैं, वे नित्य जिन की पूजा करते हैं। दोनों में कुछ भी अंतर नहीं है।

गा. क्र. ७३– धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता ।
—बोधपाहुड, २४

गा. क्र. ७८– जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोह्णं पि ।
अण्णाणी तावदु सो कोधादिसु वट्टदे जीवो ॥
—समयसार, ६९

गा. क्र. ८०– परिहरदि दयादाणं सो जीवो भमदि संसारे ।
—अनुप्रेक्षा, ३०

गा. क्र. ८२– भणियं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं सुत्तं ।
—पंचास्तिकाय, १७३

गा. क्र. ८४– असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं ।
—द्रव्यसंग्रह, ४६; द्वादशानुप्रेक्षा, ४२

गा. क्र. ९५–

गा. क्र. १५१– णिग्गंथमोहमुक्का बावीसपरीसहा जियकसाया ।
पावारंभविमुक्का ते गहिया मोक्खमग्गम्मि ॥
—मोक्षपाहुड, ८०

...ा क्र. ५२– सम्मगुण मिच्छदोसो मणेण परिभाविऊण तं कुणसु ।
...ं ते मणस्स रुच्चइ किं बहुणा

गाथानुक्रमणिका